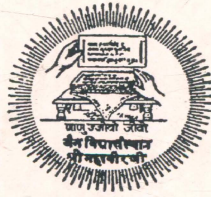


अपभ्रंश भारती

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 1999-2000

11-12



अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

अपभ्रंश भारती

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 1999-2000

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
डॉ. कैलाशचन्द्र जैन
श्री ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला
डॉ. जिनेश्वरदास जैन

प्रबन्ध सम्पादक
श्री प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. गोपीनाथ पाटनी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.

जयपुर

विषय-सूची

क्र.सं. विषय	लेखक का नाम	पृ. सं.
प्रकाशकीय		
सम्पादकीय		
1. अपभ्रंश साहित्य का पृष्ठाधार	डॉ. रेनू उपाध्याय	1
2. अपभ्रंश का चरिउ काव्य और उसकी परम्परा	डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	11
3. उववणाईँ सुरमणकयहरिसईँ	मुनि नयनन्दि	18
4. पउमचरिउ तथा रामचरितमानस के वस्तुविधान का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. मंजु शुक्ल	19
5. अणमंथियउअहि व अपयखोहु	मुनि नयनन्दि	26
6. णायकुमारचरिउ का साहित्यिक सौन्दर्य	डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव	27
7. रयणायरु णावइ सायरु ताह चम्पापुरु छज्जइ	मुनि नयनन्दि	34
8. योगसार का सार : योगों से निवृत्ति	डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'	35
9. मणिरयणाइयहुँ ण संख जेत्थु	मुनि नयनन्दि	42
10. अपभ्रंश के करकण्डचरिउ में अभिव्यक्त धार्मिक अभिव्यञ्जना	डॉ. राजीव प्रचण्डिया	43
11. करकण्डचरिउ में सौन्दर्य-चित्रण	डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'	51
12. णं धरणिऐँ धरियउ दिव्वेसु	कवि पुष्पदन्त	62
13. कवि अद्दहमाण कृत 'संदेश-रासक'	श्री वेदप्रकाश गर्ग	63
14. जहिं सव्वईँ दिव्वईँ माणुसाईँ	कवि पुष्पदन्त	68
15. संदेश-रासक में अप्रस्तुतविधान	डॉ. बहादुर मिश्र	69
16. बौद्ध सिद्ध : सरहपाद	डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी	81
17. जहिं चउपयाईँ तोसियमणाईँ धण्णईँ चरंति	कवि पुष्पदन्त	88
18. आचार्य जिनदत्त सूरि और उनकी अपभ्रंश रचनाएँ	डॉ. (श्रीमती) सूरजमुखी जैन	89
19. णिच्चोरमारि णिल्लुत्तदुक्खु	कवि पुष्पदन्त	94
20. रोडा-कृत 'राउलवेल' का काव्य-सौन्दर्य	डॉ. महावीरप्रसाद शर्मा	95

अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार, महावीर निर्वाण दिवस पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 से.मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता —

सम्पादक

अपभ्रंश भारती

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड,

जयपुर — 302004

प्रकाशकीय

अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्येताओं के समक्ष 'अपभ्रंश भारती' का ग्यारहवाँ-बारहवाँ अंक सहर्ष प्रस्तुत है।

“भाषा विज्ञान के आचार्यों ने अपभ्रंश भाषा का काल 500 ई. से 1000 ई. तक बताया है।” इस समय अपभ्रंश भाषा भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों में प्रचलित थी। गौरीशंकर ओझा के अनुसार अपभ्रंश का प्रचार गुजरात, सुराष्ट्र, मारवाड़ (त्रवण), दक्षिण पंजाब, राजपूताना अवन्ति और मालवा (मन्दसौर) में विशेष रूप से था। “छठी से बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा ने राजनैतिक और सांस्कृतिक संबल पाकर साहित्य-रचना की प्रमुख भाषा के रूप में जो गौरव प्राप्त किया वह कई क्षेत्रीय भाषाओं के पृथक् विकास का भी कारण बना।”

अपभ्रंश साहित्य के बहुआयामी महत्व को समझते हुए ही दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा 1988 में अपभ्रंश साहित्य अकादमी की स्थापना की गई। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन-अध्यापन के लक्ष्य को समीचीन दिशा प्रदान करने के लिए 'अपभ्रंश रचना सौरभ', 'अपभ्रंश अभ्यास सौरभ', 'अपभ्रंश काव्य सौरभ', 'प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ', 'प्राकृत रचना सौरभ', 'प्राकृत अभ्यास सौरभ', 'प्रौढ़ प्राकृत रचना सौरभ', 'पाहुड दोहा चयनिका', 'अपभ्रंश : एक परिचय' आदि पुस्तकों का प्रकाशन किया जा चुका है। पत्राचार के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर 'अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' व 'अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम' विधिवत संचालित हैं। अपभ्रंश के मौलिक लेखन के प्रोत्साहन के लिए 'स्वयंभू पुरस्कार' भी प्रदान किया जाता है।

जिन विद्वान लेखकों ने अपनी लेखनी द्वारा विचार प्रस्तुत कर इस अंक के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया हम उनके आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादाहर्ह हैं। अंक के मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादाहर्ह है।

प्रकाशचन्द्र जैन
मानद मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

स्वयंभू पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं पर 'स्वयंभू पुरस्कार' दिया जाता है। इस पुरस्कार में 11,001/- (ग्यारह हजार एक) रुपये एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जाता है।

पुरस्कार हेतु नियमावली तथा आवेदन-पत्र प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय (दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर - 4) से पत्र-व्यवहार करें।

सम्पादकीय

“हिन्दी का पूर्व और अपूर्व रूप अपभ्रंश है। इसमें प्रणीत साहित्य आज प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। अपभ्रंश में महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य, रूपककाव्य, कथा और कथानक के विविध रूप तथा अन्य अनन्य लोक और लौकिक काव्य रूपों में काव्य की सर्जना हुई है। काव्य के अतिरिक्त अपभ्रंश में गद्य साहित्य भी रचा गया है।”

“अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन एवम् अनुशीलन का आधार सामान्य लोकचेतना के उदय और विकास के इतिहास का महत्वपूर्ण अध्ययन है। हमारी राष्ट्रीय चेतना एवम् भावनाएँ जैसे-जैसे लोकोन्मुख होती गई, हमारा ध्यान प्राचीन तथा अर्वाचीन लोकभाषाओं और लोक-साहित्यों की ओर अग्रसर होता गया। जैसे संस्कृत भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी अनुशीलन का अभिनव उत्साह आधुनिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का मंगलाचरण है, वैसे ही प्राकृत और अपभ्रंश में क्रमशः बढ़ती हुई रुचि उस पुनरुत्थान की लोकोन्मुखता का साक्ष्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अपभ्रंश में अब तक जितना साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें से अधिकांश केवल दिगम्बर जैन धर्म से प्रेरित एवम् प्रभावित है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य में मानवजीवन और जगत् की अनेक भावनाओं और विचारों को वाणी मिली है। यदि एक ओर इसमें जैन मुनियों के चिन्तन का चिन्तामणि है, तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है, यदि एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोकजीवन से उत्पन्न होनेवाले ऐहिक रस का रागरंजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका-पुरुषों के उदात्त जीवन-चरित से सम्पन्न है, तो सामान्य वणिक-पुत्रों के दुःख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है।”

“भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने अपभ्रंश भाषा का काल 500 ई. से 1000 ई. तक बताया है, परन्तु इसके साहित्य की प्राप्ति लगभग आठवीं सदी से प्रारम्भ होती है।”

“अपभ्रंश भाषा का साहित्य ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् आरम्भ होता है। इस समय अपभ्रंश भाषा भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों में प्रचलित थी। गौरीशंकर ओझा के मतानुसार अपभ्रंश का प्रचार गुजरात, सुराष्ट्र, मारवाड़ (त्रवण), दक्षिण पंजाब, राजपूताना, अवन्ति और मालवा (मन्दसौर) में विशेष रूप से था।”

“छठी से बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा ने राजनैतिक और सांस्कृतिक संबल पाकर साहित्य-रचना की प्रमुख भाषा के रूप में जो गौरव प्राप्त किया वह कई क्षेत्रीय भाषाओं के पृथक् विकास का भी कारण बना। समस्त अपभ्रंश क्षेत्र में साहित्य की परिनिष्ठित भाषा के समानान्तर स्थानीय बोलियों का महत्व भी बढ़ता जा रहा था।”

“बंगाल में 84 सिद्धों ने अपभ्रंश में रचनाएँ लिखकर अपभ्रंश साहित्य को पल्लवित एवम् पुष्पित किया तथा पालवंशी बौद्धों ने लोकभाषा को प्रोत्साहन दिया। राष्ट्रकूट राजाओं के आश्रय में स्वयंभू एवम् पुष्पदन्त जैसे अपभ्रंश भाषा के क्रान्तिदर्शी कवियों ने प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना

करके अपभ्रंश साहित्य की श्रीवृद्धि की तथा उसे पर्याप्त समृद्ध भी किया। मुंज और भोज को प्राकृत भाषा से ही नहीं अपभ्रंश के प्रति भी विशिष्ट अनुराग था।”

“अपभ्रंश वाङ्मय की विकासोन्मुख काव्य-धारा आठवीं शती से आरम्भ होकर 16वीं शती तक निर्बाधरूप से प्रवाहित होती रही है। चरिउ-काव्यरूप का प्रयोग प्रत्येक शती में किया गया है। इतने लोकप्रिय काव्यरूप में अपभ्रंश के कवियों ने मध्यकालीन लोक संस्कृति और सभ्यता, साहित्य, उपासना-पद्धति तथा उस समय में प्रचलित आचार-शास्त्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।”

“चरिउ एक सशक्त काव्य रूप है। चरिउ का मूल उद्गम अपभ्रंश के आरम्भ से हुआ है। किसी पौराणिक पुरुष तथा धार्मिक महापुरुष का जीवनवृत्त और वृत्ति वैशिष्ट्य का कथात्मक शैली में रचा गया चरित वस्तुतः चरितकाव्य है। चरित अथवा चरित्र का अपभ्रंशरूप ‘चरिउ’ कहलाता है। चरित शब्द का सामान्य अर्थ और अभिप्राय है - रहन-सहन, आचरण, किसी जीवन की विशेष घटनाओं और कार्यों आदि का वर्णन करना। चरिउ-काव्य में प्रबंध और पुराण काव्य-रूपों का संकर रूप सम्मिलित है। चरित काव्य-रूप के निर्धारण में अपभ्रंश वाङ्मय के धार्मिक चरिउ काव्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।”

“उपलभ्य अपभ्रंश-काव्यों में दो प्रबन्ध-काव्यों का ऐतिहासिक तथा क्रोशशिलात्मक महत्व है। महाकवि स्वयम्भू-कृत ये दोनों काव्य हैं - ‘पउमचरिउ’ और ‘रिट्टणेमिचरिउ’। पहला काव्य अपभ्रंश का रामायण है, तो दूसरा अपभ्रंश का महाभारत। इन दोनों महाकाव्यों की ऐतिहासिक भूमिका इस अर्थ में है कि इन दोनों ने अपभ्रंश-भाषा को साधारण जनसमाज से विद्वत्समाज में प्रतिष्ठित किया, जहाँ वह हेय दृष्टि से देखी जाती थी। इसी अपभ्रंश-भाषा ने महाकवि पुष्पदन्त के काल में टकसाली साहित्य का रूप ग्रहण किया और अपेक्षित रूप में परिमार्जित और परिशोधित होकर वह समस्त साहित्यिक गुणों से परिपूर्ण प्रबन्धकाव्यों का सशक्त भाषा-माध्यम बन गई। पुष्पदन्त ने अपनी प्रज्ञापौढ काव्य-रचनाओं द्वारा उसे ततोऽधिक समृद्धि प्रदान की। फलतः, अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य संस्कृत और प्राकृत के उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्यों के समकक्ष समादृत हुए।”

जायसी के ‘पद्मावत’ और तुलसी के ‘मानस’ की रचना-विधि में दोहा-चौपाई का जो विधान है वह अपभ्रंश-काव्य में प्राप्य घत्ता-कडवक की रचना-पद्धति की ही देन है। संस्कृत-प्राकृत की काव्यधारा में, सर्वप्रथम अपभ्रंश में ही अन्त्यानुप्रास की प्रणाली का अनिवार्य रूप से प्रयोग पाया जाता है, जिसे हिन्दी-काव्य में तुकान्तता अथवा तुकबन्दी कहते हैं। रचना-प्रकल्प में छान्दस वैविध्य और वैचित्र्य का विनियोग अपभ्रंश-काव्य की अपनी पहचान है।”

“पउमचरिउ’ तथा ‘रामचरितमानस’ में वर्णित रामकथा मूलतः तो समान है परन्तु कई घटनाओं तथा पात्रों के नामों प्रभृति में वैषम्य के कारण दोनों में भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। ‘पउमचरिउ’ में जिस रामकथा को स्वयंभू ने पाँच काण्डों में वर्णित किया ‘मानस’ में उसी कथा को तुलसी ने ‘सप्तसोपान’ में निबद्ध किया है।”

“वस्तुतः देखा जाए तो किष्किंथाकाण्ड और अरण्यकाण्ड की घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं और उन्हें एक काण्ड में रखा जा सकता है। स्वयंभू ने दोनों का एकीकरण न करते हुए एक को उसके पूर्व के काण्ड में जोड़ दिया है और दूसरे को उसके बाद के। इस प्रकार दो काण्डों की संख्या कम हो गई। लेकिन राम के प्रवृत्तिमूलक और उद्यमशील चरित्र को दोनों प्रधानता देते हैं।”

“काव्यांशों के उदाहरणों में काव्यकार पुष्पदन्त की रीति-रमणीय रचना-प्रतिभा की प्रौढ़ता का पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है। बिम्बविधान के सन्दर्भ में महाकवि पुष्पदन्त की भाषा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। काव्यकार की काव्य-साधना मूलतः भाषा की साधना का ही उदात्त रूप है। कोई भी कृति अपनी भाषिक सबलता के कारण ही चिरायुषी होती है। ‘णायकुमारचरित’ भी अपनी भाषिक प्रौढ़ता के साथ ही काव्यशास्त्रोपयोगी साहित्यिक तत्त्वों के सुचारु और सम्यक् विनियोजन के कारण ही कालजयी काव्य के रूप में चिरप्रतिष्ठ बना हुआ है।”

“कविवर जोइन्दु ने अपभ्रंश भाषा में परमात्मप्रकाश और योगसार ग्रन्थ की रचनाकर रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों के विरुद्ध जन-सामान्य के लिए सहज-सरलरूप से जीवन-मुक्ति का संदेश दिया और आध्यात्मिक गंगा को प्रवाहित किया है।”

“आत्मा से परमात्मा बनने की साधना ही यथार्थ में योगी/मुनि बनकर योगों से परे होने की साधना है। यही अयोग साधना है।”

“योगसार में कविवर जोइन्दु ने सरल बोधगम्य भाषा में आत्मसाधना द्वारा प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर गमन का उपाय बतलाया है जो योगदशा से अयोगी बनने का ही पथ है।”

“‘चरितकाव्य’ साहित्य की एक सशक्त विधा है। जैन चरितकाव्यों में मुनि कनकामर द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित ‘करकण्डचरित’ एक उत्कृष्ट कोटि का काव्य है जो सांसारिक दुःखों में उलझे हुए पतित जीवन को आध्यात्मिक उन्नति/आत्मोत्थान की ओर ले जाने में प्रेरणास्रोत रहा है। यह ‘चरितकाव्य’ व्यक्ति को उसके द्वारा किए गए शुभ-अशुभ कर्मों के लेखे-जोखे का अहसास दिलाता है ताकि भौतिक-अभौतिक संघर्षों-विवादों से ऊपर उठकर मनुष्य समदर्शी-समभावी हो सके अर्थात् सुख-दुःख से उसे सदा-सदा के लिए छुटकारा मिल सके।”

“चित्त की निर्मलता व्यक्ति के भोजन-आहार पर निर्भर करती है। अपरिमित, असेवनीय, असात्विक, अमर्यादित, असन्तुलित आहार जीवन में आलस्य, तन्द्रा-निन्द्रा, मोह-वासना आदि कुप्रभावों कुत्सितवृत्तियों को उत्पन्न कर साधना में व्यवधान उत्पन्न करता है, अस्तु आहार का त्याग शक्त्यानुसार किया जाता है।”

“आहार त्यागने का मूलोद्देश्य शरीर से उपेक्षा, अपनी चेतनवृत्तियों को भोजनादि के बन्धनों से मुक्त करना, क्षुधादि में साम्यरस से च्युत न होना अर्थात् सब प्रकार इच्छा-आसक्ति के त्यागने से रहा है।”

“सौन्दर्य चित्रण को हम दो रूपों में देखते हैं - एक वस्तु-सौन्दर्य और दूसरा भाव-सौन्दर्य। महाकाव्यों और कथा-काव्यों में दोनों के निरूपण की पुरातन परम्परा रही है। वस्तु-सौन्दर्य से उन स्थलों या वस्तुओं के वर्णन का तात्पर्य है जहाँ कथानक या इतिवृत्त की विविध घटनाएँ घटित होती हुई आगे बढ़ती हैं और कथा-नायक के चरित्र को उजागर करती हैं। इनके अन्तर्गत नगर, प्रासाद, पुष्पवाटिका, उपवन, सरोवर, चित्रशाला, कुसुमशय्या, हाट, सेना, युद्ध-वर्णन आदि का चित्रात्मक निरूपण होता है।”

“करकंडचरित’ में सौन्दर्य-चित्रण के लिए उसके कवि ने अनेक बिन्दु खोजे हैं। जहाँ वस्तु-योजना की है, वहाँ भावात्मक उद्भावनाएँ भी की हैं। लेकिन कहीं भी मानव-जीवन की उपेक्षा नहीं की है।”

“संदेश-रासक की कहानी बहुत सरल, किन्तु मर्मस्पर्शी है। यह महत्वपूर्ण विरह-काव्य है। विरह-पक्ष को साकार करने के लिए हृदय की मर्मवेदना के द्वारा वातावरण तैयार किया गया है। इसमें विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है।”

“कवि की काव्य-कुशलता का वर्णन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि कवि प्राकृतिक दृश्यों को चित्र द्वारा कुशलता से अंकित करता है कि इससे विरहिणी के विरहाकुल हृदय की मर्मवेदना मुखरित हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्म-वेदना की ही होती है।”

“इस रचना का षड्ऋतु-वर्णन रीतिकालीन ऋतुवर्णन के समान है।”

“संदेश-रासक की भाषा अपभ्रंश है, जिसे शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप नागर अपभ्रंश कह सकते हैं। स्वयं कवि ने अपनी इस रचना की भाषा को न अधिक पंडितों और न मूर्खों की बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए लिखी भाषा बताया है। अर्थात् वह बोल-चाल की भाषा में है। इसे ही अवहट्ट नाम दिया गया है, जो ग्राम्यापभ्रंश का ही जन-प्रचलित रूप है। वास्तव में कृति में इसका वह परवर्ती रूप विद्यमान है जो अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कड़ी है। अतः अवहट्ट भाषा का यह प्रायः सबसे प्राचीन उपलब्ध धर्मेतर-काव्य है। संस्कृत काव्यों में जो स्थान मेघदूत का है वही अपभ्रंश-काव्यों में इस रचना को प्रदान कर सकते हैं।”

“रासक-काव्य-रूप की विशेषताओं से संकलित यह ‘संदेश-रासक’ एक छोटा-सा सुन्दर विरह-काव्य है, जिसमें कथावस्तु का कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि इसमें कथातत्त्व तो अत्यल्प है। इसलिए इस रासक की विशेषता उसके कथानक में नहीं, अपितु उसकी अभिव्यक्ति एवं कथन-शैली में है।”

“संदेश-रासक’ का अप्रस्तुतविधान मुख्यतः आलंकारिक है। इसकी आलंकारिकता की रक्षा के लिए कवि ने अधिकांशतः परम्परामुक्त अप्रस्तुओं (उपमानों) का अवलम्बन लिया है।”

कहीं-कहीं अद्दहमाण ने स्वच्छंद पद्धति विरल प्रयुक्त या नये उपमानों का प्रयोग करके अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। संदेश-रासक में केवल बाह्य रूप-वर्णन ही नहीं

है; अपितु गहरे जाकर हृदय पर पड़नेवाले रूप प्रभाव को भी उपमानों के माध्यम से व्यक्त किया है।

समासतः, संदेश-रासक का अप्रस्तुतविधान जहाँ सदियों से चली आ रही साहित्यिक परम्परा का अनुसरण करता है, वहाँ बीच-बीच में उसकी सविनय अवज्ञा करता हुआ नई परम्परा का सूत्रपात भी करता है। जहाँ वह परम्परा का अनुगमन करता प्रतीत होता है, वहाँ रसनीयता का स्रोत बनकर बखूबी पाठकों को रस-निमग्न करता भी है।”

“बौद्ध प्रस्थान में हीनयान आचरण-प्रधान साधना थी, जहाँ वासना का दमन होता था। शील, समाधि और प्रज्ञा जैसे त्रिरत्न की साधना से वासना का तेल सूख आता और चित्त-दीप की बाती बुझ जाती है - निर्वाण हो जाता है। महायान में वासना का दमन नहीं, शोधन होता था।”

“नैरात्म्यवादी इस बौद्ध मार्ग में चित्त ही सर्वस्व है जिसके दो रूप हैं - संवृतचित्त और बोधिचित्त। बोधिचित्त ही परमार्थ चित्त है। उसी की प्राप्ति वज्र-सिद्धि है। संवृतचित्त चंचल शुक्र है, परमार्थ में वही विशिष्ट साधना से वज्रोपम हो जाता है। गगनोपम हो जाने से वह उष्णीय चक्र में प्रतिष्ठित हो जाता है फिर निर्माण-चक्र (निम्नतम) हो या उष्णीय चक्र - सर्वत्र समभाव से स्थिर हो जाता है -

शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तं तदुच्यते

यह द्वन्द्वातीत समरस ‘महासुह’ दशा है। यह सिद्ध सरहपाद ही हैं जिन्होंने त्रिशरण में ‘गुरुं शरणं गच्छामि’ का चौथा चरण जोड़ा। क्षरणशील शुक्र ही संवृत चित्त है जिसे महामुद्रा के संसर्ग से क्षुब्ध कर अवधूती मार्ग में संचरित किया जाता है और शोधित होकर उष्णीय चक्र में प्रतिष्ठित हो जाता है।”

“आचार्य जिनदत्त सूरि उच्चकोटि के धर्माचार्य, लेखक एवं सुकवि थे। आपने सम्पूर्ण मरुदेश का भ्रमण कर जैनधर्म का प्रचार किया, इसलिये आपको मरुस्थली कल्पतरु भी कहा जाता है। अजमेर नरेश अणौराज और त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल आदि तत्कालीन शासक एवं सामन्त आपके भक्त थे।”

“कवि जिनदत्तसूरि की अबतक उपलब्ध रचनाएँ हैं - 1. उपदेश रासरसायन, 2. कालस्वरूपकुलकम्, 3. चर्चरी।”

“महाकवि रोडा-कृत ‘राउलवेल’ (राजकुल विलास) एक भाषा-काव्य है। 11वीं शताब्दी के इस शिलांकित भाषा-काव्य की भाषा तत्कालीन समाज में प्रचलित पुरानी कोसली का एक सुन्दर उदाहरण कहीं जा सकती है।”

“रोडा-कृत ‘राउलवेल’ अपभ्रंशोत्तर काल की अत्यधिक सुन्दर, कलात्मक एवं शृंगारपरक काव्य कृति है। इसकी सभी नायिकाएँ विभिन्न अलंकरणों से नख से शिखा तक सुसज्जित हैं। उनके नख-शिख सौन्दर्य की भावात्मक अभिव्यक्ति हेतु कवि ने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं

की झड़ी-सी लगा दी है। अनेक प्राकृत उपमानों द्वारा कवि ने सौन्दर्यतत्त्व की व्यापकता को उजागर किया है। काव्य-कला एवं भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से यह काव्य किसी भी समकालीन शृंगार-काव्य से कम नहीं है।”

“नारी-सौन्दर्य की विराटता को कवि ने अनेक उपमानों से सुशोभित किया है।”

“मर्यादित एवं सात्विक शृंगार-चित्रण के द्वारा कवि रोडा ने अपनी परिष्कृत अभिरुचि का ही परिचय दिया है। काव्य-कला की दृष्टि से यह भाषाकाव्य अतुलनीय है। इसमें कवि ने तत्कालीन लोक-अभिरुचि को भी अत्यन्त परिष्कृत ढंग से प्रस्तुत किया है।”

“अपभ्रंश साहित्य का सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है।”

“अपभ्रंश-साहित्य न केवल अपने परवर्ती साहित्य को अनेक विधि प्रभावित करने के कारण ही मूल्यवान् है, अपितु अपनी मौलिक उद्भावना, सौन्दर्य-चेतना, कल्पना के मूर्त आकलन, नव-नव अप्रस्तुत-विधान, छन्दोनुशासन, मनोहारी बिम्ब, विधायिनी कुशलता, कथानक-रूढ़ियों के प्रयोग तथा नीतिपरक मधुरता की दृष्टि से भी प्रभूत समृद्धशाली है। इसके रचयिता जैन-मुनि और आचार्य यद्यपि वीतरागी महात्मा थे, तथापि उनकी कारयित्री प्रतिभा ने अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति के सहारे जो बिम्ब उभारे हैं, जो सौन्दर्य-सृष्टि की है, वह बेजोड़ है। लोक में रहकर भी वे अलौकिक भावना से संपृक्त बने रहे और वीतरागी होने पर भी लोकाचारों, लोक-व्यवहार तथा लोकानुभूतियों से अछूते नहीं रहे। लोक-जीवन और जगत् के इसी प्रसंग-संग ने इनकी काव्य-सर्जना को अनूठा बना दिया है, महिमामंडित कर दिया है। जहाँ उसमें सहजता-सरलता है वहाँ वक्रता का भी सौन्दर्य है। जहाँ लोक-जीवन की मधुर अभिव्यक्ति हुई है वहाँ आध्यात्मिकता का भी सरस प्रवाह है। जहाँ वस्तु-चित्रण में एक आकर्षण है वहाँ नूतन उद्भावनाओं में भी सौन्दर्य की सृष्टि हुई है। जहाँ अप्रस्तुत-योजना में उपमानों के प्रयोग से इनके सटीक सौन्दर्य-बोध का परिचय मिलता है वहाँ आन्तरिक भावों का भी सहज सौन्दर्य मन को लुभाता है। कहीं नख-शिख शृंगार का सजीव गत्यात्मक सौन्दर्य है, तो कहीं मानवीकरण के प्रयोग से प्रकृति चैतन्य हो उठी है। इस प्रकार अपभ्रंश के इन कवियों का सौन्दर्य-चित्रण अद्वितीय और कलात्मक ऐश्वर्य से परिपूर्ण है।

“अपभ्रंश साहित्य का पृष्ठाधार बहुआयामी है। इसके अध्ययन एवम् विश्लेषण से नये-नये तथ्यों के उद्घाटन के साथ-साथ साहित्य तथा संस्कृति की कई परतें भी खुलती जाती हैं।” “समग्र रूप में यह साहित्य उस युग के जातीय नवोन्मेष का प्रतिनिधि होकर ऊपर उठा।”

जिन विद्वान् लेखकों ने अपने महत्त्वपूर्ण लेखों से इस अंक का कलेवर बनाने में सहयोग दिया है उन सभी के हम आभारी हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि. जयपुर धन्यवादार्ह है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

अपभ्रंश साहित्य का पृष्ठाधार

— डॉ. रेनू उपाध्याय



अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन एवम् अनुशीलन का आधार सामान्य लोकचेतना के उदय और विकास के इतिहास का महत्वपूर्ण अध्ययन है। हमारी राष्ट्रीय चेतना एवम् भावनाएँ जैसे-जैसे लोकोन्मुख होती गई, हमारा ध्यान प्राचीन तथा अर्वाचीन लोकभाषाओं और लोक-साहित्यों की ओर अग्रसर होता गया। जैसे संस्कृत भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी अनुशीलन का अभिनव उत्साह आधुनिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का मंगलाचरण है, वैसे ही प्राकृत और अपभ्रंश में क्रमशः बढ़ती हुई रुचि उस पुनरुत्थान की लोकोन्मुखता का साक्ष्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अपभ्रंश में अब तक जितना साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें से अधिकांश केवल दिगम्बर जैन धर्म से प्रेरित एवम् प्रभावित है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य में “मानवजीवन और जगत् की अनेक भावनाओं और विचारों को वाणी मिली है। यदि एक ओर इसमें जैन मुनियों के चिन्तन का चिन्तामणि है, तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है, यदि एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोकजीवन से उत्पन्न होनेवाले ऐहिक रस का रागरंजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका-पुरुषों के उदात्त जीवन-चरित से सम्पन्न है, तो सामान्य वणिक-पुत्रों के दुःख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है।”

भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने अपभ्रंश भाषा का काल 500 ई. से 1000 ई. तक बताया है, परन्तु इसके साहित्य की प्राप्ति लगभग आठवीं सदी से प्रारम्भ होती है। यद्यपि उद्योतन सूरि

ने 'कुबलयमाला कहा' में अपभ्रंश के आकर्षण का वर्णन करते हुए बताया है कि "यह शुद्ध और मिश्रित संस्कृत और प्राकृत शब्दों का समानुपातिक और आनन्ददायक मिश्रण है।"¹² चूँकि अपभ्रंश साहित्य के निर्माण में जैनों और बौद्धों का विशिष्ट योगदान है, यही कारण है कि इसमें धार्मिक साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। साहित्य रचनाकारों में धार्मिक विचारों का बाहुल्य होने के कारण साहित्यिक पृष्ठाधार धार्मिकता में रचा-बसा दिखाई देता है। यद्यपि अपभ्रंश साहित्य में राजनीतिक चेतना का अभाव-सा दिखाई देता है, फिर भी अपभ्रंशकालीन यह परिस्थिति उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि अपभ्रंश साहित्य के सर्वांगीण अध्ययन में इसका भी विशेष महत्व है। अतः सर्वप्रथम राजनीतिक चेतना का संक्षिप्त विवरण ही द्रष्टव्य है -

राजनीतिक आधार - ईसा की छठी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरान्त मगध गुप्तों के आधिपत्य में था और मध्य देश में मखौरियों ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इसी समय गुजरात-काठियावाड़ तक गुर्जरजाति ने अलग आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इस प्रकार पंजाब में गुजरात और गुजरांवाला प्रांत, दक्षिण मारवाड़ में भिन्नमाल और भरुच में गुर्जरत्रा इनके गढ़ थे। अतः उत्तर भारत में यही तीन बड़ी शक्तियाँ प्रबल थीं। थानसेर में प्रभाकरवर्धन ने सातवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरापथ की ओर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया तथा इसी समय उसके पुत्र हर्ष ने उत्तर भारत की बिखरती हुई सत्ता को नियन्त्रित किया। हर्ष ने चीन में भी अपने दूतों को भेजा तथा चीन के दूत भी कन्नौज में आये। हर्षवर्धन की ही तरह दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय बलवान राजा था जिसके दरबार में ईरानी राजा खुसरो ने अपने दूतों को भेजा था। चूँकि छठी शताब्दी में हूणों को परास्त करने के बाद भारत कुछ समय के लिए निश्चित हो गया था परन्तु जब 710 ई. में अरबों ने सिन्ध पर विजय प्राप्त की तो भारत को फिर से चौकन्ना होना पड़ा। अरबों ने सिन्ध से आगे बढ़ने का भी भरसक प्रयास किया किन्तु सफल नहीं हो सके, फिर भी आठवीं शताब्दी के मध्य तक वे भिन्नमाल राज्य और सौराष्ट्र पर हमले करते रहे।

"अरबों के भारत में प्रवेश करने से हिन्दू और अरब संस्कृतियों का मेल हुआ। भारत के अनेक हिन्दू विद्वान् बगदाद गये और अनेक अरब विद्यार्थी पढ़ने के लिए भारत आये। संस्कृत के दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, काव्य आदि के अनेक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ। भारत से गणित आदि का ज्ञान अरब लोग ही यूरोप में ले गये। पंचतन्त्र आदि की कहानियाँ भी उन्हीं के द्वारा विदेशों में पहुँची।"¹³ धीरे-धीरे हर्षवर्धन का राज्य भी छिन्न-भिन्न होने लगा और उत्तर भारत अनेक राज्य-खण्डों में विभाजित हो गया तथा परस्पर युद्ध आरम्भ हो गये, जिनमें पूर्व में बिहार-बंगाल के पाल, पश्चिम में गुजरात-मालवा के प्रतिहार तथा दक्षिण में मान्यखेट के राष्ट्रकूट प्रमुख थे। ये तीनों ही कन्नौज पर अपना अधिकार करना चाहते थे, पर सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि नवीं शताब्दी में भोज और उसके वंशजों ने कन्नौज को अपने अधिकार में ले लिया।

दसवीं शताब्दी में भी छोटे-छोटे राज्यों का आपसी संघर्ष विद्यमान था। इन राजाओं में व्यक्तिगत स्वार्थ पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता था जिसकी रक्षा के लिए वे विदेशियों की सहायता

लेने से नहीं चूकते थे। इनमें क्षत्रियोचित वीरता तथा पराक्रम की भावना तो सदैव होती दिखाई देती थी, परन्तु राष्ट्रीयता की भावना का सर्वथा अभाव था। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत की शक्ति और भी अधिक अस्त-व्यस्त हो गयी थी। यद्यपि मालवा का राजा भोज अपनी वीरता के लिए भारत में बहुत प्रसिद्ध है तथा चेदि राजा कर्ण भी उस समय का बहुत प्रतापी राजा था, तथापि ग्यारहवीं शताब्दी के शुरू में महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ। उस समय तक प्रतिहारों की शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी थी। अतः उनके आधिपत्य में रहनेवाले चन्देल (कालिन्जर), कलचुरी (त्रिपुरी) और चौहान (सांभर, अजमेर) स्वतन्त्र हो गये। ये स्वतन्त्र तो अवश्य हो गये थे, परन्तु इनमें इतनी भी सामर्थ्य नहीं थी कि किसी भी बाह्य आक्रमण को रोक सकें। इसी समय उत्तर भारत में यालों, गहड़वारों, चालुक्यों, चन्देलों और चौहानों के अतिरिक्त गुर्जर, सोलंकी तथा मालवा के परमारों ने भी अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये तथा इस बात का भरसक प्रयत्न करने लगे कि वे चक्रवर्ती राजा के रूप में प्रतिष्ठित हों और अन्य सभी राजा उनके चक्रवर्तित्व को स्वीकार कर लें। यही कारण था कि उस समय भिन्न-भिन्न राज्यों में परस्पर संघर्ष एवम् प्रतिस्पर्धा का दौर चलता रहता था। ये सभी राजा एवम् राज्य व्यक्तिगत स्तर पर पर्याप्त शक्तिशाली एवम् सुदृढ़ थे और यदि इनमें संगठन होता तो भारतीय स्वतन्त्रता अक्षुण्ण होती तथा अन्त में उन्हें तुर्कों और पठानों के सामने झुकना नहीं पड़ता। हालांकि इसी समय अजमेर के चौहानों में से बीसलदेव और पृथ्वीराज ने तुर्कों को झुकाने का भरपूर प्रयास करते हुए भारतीय-अस्मिता को बनाये रखने हेतु अदम्य साहस का परिचय दिया था।

तेरहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय प्रतिष्ठा और भी मलिन हो गयी क्योंकि तब तक हिन्दू जाति, जातिगत संकीर्णता के क्षेत्र में विभक्त हो गई थी। यही भारत का दुर्भाग्य था कि इतने पराक्रमी एवम् साहसी राजाओं के होते हुए भी उसे समय-समय पर दुर्दिनों का सामना करना पड़ा और यदि इस समय भारतीय राजाओं में राजनीतिक चेतना विद्यमान होती तथा वे सभी अपने आपको एक राष्ट्र और एक ही आर्य धर्म का सदस्य मानते तो वे संगठित रूप से विदेशी प्रभावों एवम् आक्रमणों का मुँहतोड़ जवाब दे सकते थे। इस समय तक भारतीय सभ्यता में भी पहले जैसी सजीवता एवम् सप्राणता का अभाव-सा हो गया था अन्यथा शकों और हूणों की तरह तुर्कों को भी अपना बना लेती।

धार्मिक आधार - राजनीतिक स्थिति के आकलन के उपरान्त ज्ञात होता है कि अपभ्रंश काल में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्म के साथ ही इस्लाम धर्म का भी प्रचार हो गया। फलतः बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्मावलम्बियों की भाँति इस्लाम धर्म के रचनाकारों ने भी अपभ्रंश में रचना की। उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म हर्षवर्धन के राज्यकाल में ही ऐसी अवनतावस्था को प्राप्त हो गया था कि उस समय के एक चीनी यात्री युवानच्वाङ् ने सिन्धु प्रान्त के बौद्धों की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि वहाँ के भिक्खु-भिक्खुनी निठल्ले, कर्तव्यविमुख और पतित हो गये थे। बौद्ध धर्म सर्वप्रथम दो विभागों में विभक्त हुआ - हीनयान और महायान। कुछ समय

बाद महायान के भी अनेक विभाग हो गये। महायान आधारित शून्यवाद तथा विज्ञानवाद लोगों को अधिक समय तक प्रभावित नहीं कर सके। इसमें महासुखवाद के सम्मिश्रण से वज्रयान का आविर्भाव हुआ। इसमें अलग-अलग प्रवृत्ति के लोगों के लिए योग, देवपूजा, मन्त्रसिद्धि, विषय-भोग इत्यादि साधन भी अलग-अलग थे। वज्रयान से ही सहजयान की उत्पत्ति हुई जिसने वज्रयान के विभिन्न प्रतीकों की अपने ढंग से व्याख्या करते हुए महामुद्रा, मन्त्र साधनादि बाह्य साधनाओं की अपेक्षा यौगिक तथा मानसिक शक्तियों के विकास पर विशेष जोर दिया। “यद्यपि वज्रयान और सहजयान दोनों का लक्ष्य एक ही था - महासुख या पूर्ण आनन्द की प्राप्ति और समरस की दशा का ही दूसरा नाम सहज था”¹⁴ तथापि दोनों यानों में से सहजयान में जीवन का परिष्कार एवम् सुधार कर मानव को सहज स्वाभाविक जीवन में लाने की भावना थी, परन्तु शीघ्र ही यह सब काम स्वाभाविक रूप में न होकर अस्वाभाविक रूप में होने लगा। परिणामस्वरूप सहज मार्ग शीघ्र ही तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेत, जादू-टोना, अन्धविश्वास, ढोंग एवम् पाखण्ड मार्ग का आश्रित हो गया। अतः बौद्ध धर्म का प्राबल्य अधिक समय तक न रह सका। नालन्दा एवम् विक्रम शिला के विध्वंस के साथ ही प्रायः वह भी ध्वस्तावस्था तक पहुँच गया तथा कुछ समय उपरान्त बौद्ध धर्म भारत में नाममात्र के लिए ही शेष रह गया।

जैन धर्म में बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक संयम था। यही कारण था कि जैन धर्म उतना पतित कभी नहीं हुआ जितना बौद्ध धर्म। जबकि जैन धर्म का प्रसार भी उन्हीं परिस्थितियों में हुआ था जिनमें बौद्ध धर्म का उदय हुआ था। तत्कालीन राष्ट्रकूट तथा गुर्जर सोलंकी राजाओं में से कुछ का जैन धर्म के प्रति विशिष्ट अनुराग था। विशेष श्रद्धा होने पर भी जैन धर्म की अहिंसात्मक प्रवृत्ति उन्हें अधिक प्रभावित न कर सकी। बौद्धों की तरह आरम्भ में तो जैन भी जातिगत विद्वेष से दूर थे, परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितिवश इस महामारी की चपेट में आ गये। जैन व्यापारी वर्ग आरम्भ में अहिंसा का पुजारी भी रहा तथा संकट की घड़ियों में शकों और यवनों से युद्ध करते हुए उनके दौत खट्टे कर अपने क्षत्रिय होने का परिचय भी दिया, परन्तु धीरे-धीरे अपने क्षत्रियोचित पराक्रम और साहस को भूल गया। यूँ तो “अपभ्रंश साहित्य अधिकांश धार्मिक आवरण से आवृत है। माला के तन्तु के समान सब प्रकार की रचनाएँ धर्मसूत्र से ग्रथित हैं।”¹⁵ कारण भी स्पष्ट है कि अपभ्रंश साहित्य की रचना एवम् सुरक्षा जैसे महत् कार्य में सबसे अधिक सहयोग बौद्धों और जैनों का रहा है। “जैनों ने केवल संस्कृत में ही नहीं लिखा, प्राकृत में भी उनके अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। जैनों में व्यापारी वर्ग भी था, जिनके लिए पंडितों की भाषा का ज्ञान न सरल था न सम्भव। उनके लिए अनेक ग्रन्थ देश भाषा में - अपभ्रंश में लिखे गये। जैनाचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए अनेक ग्रन्थ लिखे। किन्तु दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयों पर भी इन आचार्यों ने लिखा। बौद्धों की अपेक्षा वे इस क्षेत्र में अधिक उदार हैं। संस्कृत-प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगू, तमिल और विशेषरूप से कन्नड़ी साहित्य में भी उनका योग अधिक है।”¹⁶ जैनाचार्यों ने महाकाव्य,

खण्डकाव्य, मुक्तक, नाटक, चम्पू, गद्यकाव्य, कथाकोश इत्यादि सभी साहित्यिक अंगों पर आधारित रचनाएँ कीं। इसके अतिरिक्त हिन्दू तथा बौद्धाचार्यों की तरह विशाल स्तोत्र-साहित्य भी उन्होंने लिखा। जैनों ने अपने साहित्य में रामायण, महाभारत तथा प्राचीन पुराणों की कथाओं को विशिष्ट स्थान प्रदान किया परन्तु इनके साहित्य में उक्त ग्रन्थों का रूप परिवर्तित हो गया।

धीरे-धीरे जैन धर्म का भी विभाजन हो गया, जिसके अनुसार दक्षिण में दिगम्बर और गुजरात-राजपूताना में श्वेताम्बर सम्प्रदाय को प्रधानता मिली। दक्षिण में तमिल - चेर, पाण्ड्य और चोल राजाओं ने जैनों से प्रभावित होकर उन्हें आश्रय प्रदान करते हुए जैन गुरुओं को दान दिया तथा उनके लिए मन्दिरों, मठों इत्यादि का भी निर्माण कराया, परन्तु दक्षिण में शैव धर्म का अत्यधिक प्राबल्य होने के कारण जैन धर्म को आहत होकर पलायन करना पड़ा। राजपूत क्षत्रियों की तलवारों तथा विद्या के लिए प्रसिद्ध गुजरात और राजपूताना में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार होना अपने आप में आश्चर्य की बात है। ज्ञातव्य है कि भारतवर्ष को हिंसा और अहिंसा समय-समय पर प्रभावित करती रही है। अपभ्रंश काल में पुनः अहिंसा की लहर आई और सम्पूर्ण भारतवर्ष को प्रभावित किया। इसीलिए गुजरात, मालवा और राजपूताना में उस समय जैन धर्म का सितारा चमका, जिसमें जैनाचार्य हेमचन्द्र जैसे अनेक आचार्यों का विशिष्ट योगदान था। यद्यपि उत्तर भारत में उस समय वैष्णव धर्म का प्रभाव था और जैन धर्म उत्तर भारत के अन्य देशों तथा बंगाल में अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सका, फिर भी अनेक जैन व्यापारियों के इन प्रदेशों में जाकर व्यापार करने के कारण अहिंसा का प्रचार वैष्णव धर्म के साथ सिन्धु नदी से लेकर ब्रह्मपुत्र तक पहुँचाया गया। अहिंसा के प्रचार के परिणामस्वरूप पशु-पक्षी-हत्या तथा मांस-भक्षण पर भी नियन्त्रण हो गया। चूँकि वैष्णव धर्म में जैन धर्म की भाँति जप-तप-त्याग की कठोरता नहीं थी, इसलिए जनसामान्य ने इसे शीघ्र ही सहजता के साथ ग्रहण कर लिया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्यारहवीं एवम् बारहवीं शताब्दी में जैन धर्म की पश्चिमी भारत में, शैव धर्म की दक्षिण में तथा वैष्णव धर्म की विशेषरूप से उत्तर और पूर्वी भारत में प्रधानता थी। जैन एवम् बौद्ध धर्म की ही तरह शैव और वैष्णव भी अलग-अलग सम्प्रदायों में विभक्त होकर भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत सिद्धान्तों, विचारों एवम् धारणाओं में विभक्त हो गये। अतएव पारस्परिक भेदभाव की जड़ें भी मजबूत होने लगीं तथा सामाजिक एकता नष्ट-भ्रष्ट हो गई और "प्राचीन वैदिक धर्म में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा। परमात्मा के भिन्न-भिन्न नामों को देवता मानकर उनकी पृथक्-पृथक् उपासना आरम्भ हो गई थी। ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों और देवताओं की पत्नियों की भी पूजा होने लगी। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, बाराही नारसिंही और ऐन्द्री इन सात शक्तियों को मातृका का नाम दिया गया है। काली, कराली, चामुण्डा और चण्डी नामक भयंकर और रुद्र शक्तियों की भी कल्पना की गई। आनन्दभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी और ललिता आदि विषय-विलास-परक शक्तियों की भी कल्पना की गई। इनके उपासक शाक्त, शिव और त्रिपुरसुन्दरी के योग से ही संसार की उत्पत्ति मानते थे।"⁷

धीरे-धीरे वैदिक ज्ञान क्षीण होने लगा तथा यज्ञादि कार्य भी मन्द पड़ गये और श्राद्ध-तर्पण इत्यादि में वृद्धि हुई। फलतः पुराणों, पौराणिक देवताओं की पूजा-अर्चना, मठ-मन्दिर निर्माण, व्रतों-प्रायश्चित्तों का विधान आदि पौराणिक संस्कारों का प्रचार-प्रसार होने लगा। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुमारिल भट्ट ने एक बार फिर से वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा में वृद्धि का प्रयास किया। इतना ही नहीं उन्होंने बौद्धों के द्वारा प्रचारित-प्रसारित वैराग्य-संन्यास का विरोध करते हुए यज्ञादि क्रियाओं का खुला समर्थन किया। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्यजी ने इनकी नास्तिकता को दूर करने का प्रयास किया परन्तु अपने विश्वास का आधार अहिंसा, ज्ञान-काण्ड और संन्यास धर्म को बनाया। उनके इस सिद्धान्त से जनता अधिक प्रभावित हुई।

इनकी अवान्तर शाखाएँ भी हो गई थीं। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन में यद्यपि कभी-कभी संघर्ष भी हो जाते थे तथापि धार्मिक असहिष्णुता का भाव नहीं था। ब्राह्मण धर्म की विभिन्न शाखाओं में परस्पर विभिन्नता होते हुए भी उनमें एकता थी। पंचायतन पूजा इसी एकता का परिणाम था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी देवता की पूजा कर सकता था। सभी देवता ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतिनिधि थे। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था, तो दूसरा परम शैव, तीसरा भगवती का उपासक, चौथा परम आदित्य-भक्त।¹⁸ बारहवीं शताब्दी तक देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा-अर्चना अलग-अलग भावनाओं पर आधारित मूर्त्त प्रतीकों के रूप में की जाती थी, परन्तु कुछ समय उपरान्त इस मूर्त्ति पूजा ने जनसामान्य के बीच जड़-पूजा का रूप धारण करना शुरू कर दिया। तेरहवीं शताब्दी में मुसलमानों की धर्मान्धता एवम् कट्टरपन इतना बढ़ा कि उन्होंने मूर्त्तियों एवम् मन्दिरों को तोड़ना आरम्भ कर दिया। फलतः मूर्त्ति पूजा एवम् मूर्त्तियों की सुरक्षा की भावना मजबूत होती गई तथा शती के अन्त तक लोग मूर्त्ति और मूर्त्ति-पूजा को ही सर्वस्व मानने लगे। मूर्त्ति-पूजा का महत्त्व बढ़ते-बढ़ते इसमें आडम्बर, कुत्सा, अधर्म एवम् कर्मकाण्डों के जंजाल ने अपना स्थान बना लिया। परिणामस्वरूप धर्म का आन्तरिक रूप लुप्त हो गया और मात्र बाह्य रूप की प्रधानता हो गई। पौराणिक धर्म के इस अर्थहीन स्वरूप को स्वीकार करना सबके लिए सम्भव न था। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध देश में एक नयी लहर आई जिसके प्रवर्तक मुख्यतः सन्त लोग थे। “अपभ्रंश ने उस संक्रान्ति युग में लोक-जीवन को अपनाकर जो युगान्तकारी कार्य किया, हिन्दी ने उसी को अपने ढंग से बहुत बड़े पैमाने पर संत भक्ति काव्य के द्वारा आगे बढ़ाया। उस युग में लोक-जीवन ने अपभ्रंश के माध्यम से अपनी जिन भावनाओं को व्यक्त किया वे कालान्तर में और भी प्रबल हुईं तथा गौरवशाली प्राचीन भाव-संपदा का सहारा पाकर संत भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रकट हुईं।¹⁹ संत कवियों ने पुनः धर्म के इस कर्मकाण्डपरक बाह्य रूप के स्थान पर भक्ति-भाव-सम्पन्न आन्तरिक रूप को प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार इन संत कवियों ने भक्ति के मार्ग में आनेवाली जाति-सम्प्रदायगत संकीर्ण मानसिकता को समाप्तकर धर्म-मार्ग को प्रशस्त किया।

सामाजिक आधार - उस समय समाज में जाति एवम् सम्प्रदाय के आधार पर भेदभाव की भावना सर्वत्र दिखाई देती थी। प्रत्येक वर्ग अनेक जातियों एवम् उपजातियों में बँट गया था और

धीरे-धीरे इस भेदभाव में इतनी वृद्धि हुई कि सभी जातियाँ नितान्त अकेली तथा शिथिल पड़ने लगीं। इसी का परिणाम था कि मुस्लिम आक्रान्ताओं का मुकाबला सफलतापूर्वक नहीं कर सकीं।

यद्यपि प्रत्येक वर्ण मुख्यरूप से स्मृति प्रतिपादित धर्म का ही अनुष्ठान करता था, तथापि एक वर्ण दूसरे वर्ण के पेशे में भी प्रवृत्त हो रहा था। जैसे ब्राह्मण अपने पाण्डित्यपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के पेशों को भी स्वीकार करने लगे थे। क्षत्रिय अपने क्षात्र कर्तव्य के साथ-साथ शास्त्र-चिन्तन एवम् व्यापार इत्यादि में भी संलग्न थे। अतः अनेक राजपूत शासकों ने अपने बल-पराक्रम के अतिरिक्त विद्या तथा पाण्डित्य में भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की। इतना ही नहीं अपभ्रंशकालीन अनेक राजाओं ने शस्त्र एवम् शास्त्र इन दोनों ही विद्याओं में समान प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए अपनी सिद्धहस्तता को स्वर्णाक्षरों में अंकित करा दिया। भोज को पण्डितों के आश्रयदाता के रूप में ही नहीं जाना जाता है, अपितु एक विद्वान् एवम् पण्डित के रूप में उनकी अमिट पहचान है। प्रमाण के लिए उनका 'सरस्वती-कष्ठाभरण' अलंकारशास्त्र के लिए, 'राजमार्तण्ड' योग के लिए तथा 'राजमृगांकरण' ज्योतिष के लिए प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। गोविन्दचन्द्र, बल्लालसेन, लक्ष्मणसेन, विग्रहराज चतुर्थ तथा राजेन्द्र चोल इत्यादि राजाओं ने भी महाराज भोज की ही तरह अपनी प्रतिभा एवम् पाण्डित्य हेतु प्रसिद्धि प्राप्त की। तत्कालीन समाज के रूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए सी.वी. वैद्य ने लिखा है कि "कृषिकर्म प्रारम्भ में वैश्यों का ही कार्य था, किन्तु उनके वैश्य बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण इस कर्म को हिंसा-युक्त और पापमय समझकर छोड़ बैठे थे। यह कर्म भी शूद्रों को करना पड़ा। किन्तु 9वीं-10वीं शताब्दी में कृषि-कर्म का विधान ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए भी होने लग गया था। किन्तु खान-पान, छुआछूत, अन्तरजातीय विवाह आदि की प्रथाओं में धीरे-धीरे कट्टरता आने लगी और भेदभाव बढ़ता गया, बाल-विवाह विशेषकर कन्याओं का बाल्यावस्था में विवाह भी प्रारम्भ हो गया।"¹⁰ निष्कर्षतः सदाचार की दृष्टि से समाज उन्नत न था। राजाओं का जीवन विलासमय था। बहुपत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित थी। अनेक अपभ्रंश ग्रन्थ सिद्ध करते हैं कि ऐश्वर्याभिभूत राजाओं का अधिकांश समय अनेक रानियों, उपपत्नियों के साथ अन्तःपुर में या क्रीडोद्यान में व्यतीत होता था। स्त्री के विषय में समाज की धारणा अच्छी न थी, उसे भोग-विलास का साधन समझा जाता था। इसके अतिरिक्त रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। स्वप्न-ज्ञान और शकुन-ज्ञान में भी लोग विश्वास करते थे तथा तन्त्र-मन्त्र में भी लोगों में आस्था दिखाई देती थी। अलौकिक एवम् दिव्य घटनाओं में भी लोग विश्वास करते थे।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक तत्कालीन राजनीतिक जीवन के साथ-साथ भारतीयों का सामाजिक जीवन भी जीर्ण-शीर्ण एवम् शिथिल-सा हो गया था। सामाजिक ढाँचे में शिथिलता अवश्य आ गई थी, पर बाह्य प्रभावों के प्रति निर्भीकता का भाव तथा सत्ता को सुरक्षित एवम् स्थिर बनाये रखने की क्षमता अब भी विद्यमान थी। उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश काल में हिन्दू समाज ने आक्रान्ताओं का बराबर मुकाबला किया और विदेशी सभ्यता एवम् संस्कृति का भी

सामना किया। अतः भारतीय समाज आकस्मिक परिस्थितियों के वशीभूत होकर समय-समय पर कमजोर-सा अवश्य दिखाई दिया है, पर हर बार उसने अपनी अस्मिता को सुरक्षित रखने का भरपूर प्रयास भी किया है।

साहित्यिक आधार - “अपभ्रंश भाषा का साहित्य ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् आरम्भ होता है। इस समय अपभ्रंश भाषा भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों में प्रचलित थी। गौरीशंकर ओझा के मतानुसार अपभ्रंश का प्रचार गुजरात, सुराष्ट्र, मारवाड़ (त्रवण) दक्षिण पंजाब, राजपूताना, अवन्ति और मालवा (मन्दसौर) में विशेष रूप से था।”¹¹

गुप्तकाल में कला साहित्य एवम् ज्ञान उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थे अर्थात् इस समय कला एवम् साहित्य ने पर्याप्त प्रगति की। ज्योतिष, गणित, दर्शन तथा काव्य साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में भारतीयों ने उन्नति करते हुए गुप्त-युग की प्रतिष्ठा में वृद्धि की और उन्नति का यह क्रम अगली एक-दो शताब्दियों तक प्रभाव में रहा। गुप्तकाल में नालन्दा और विक्रमशिला के विहार ज्ञान-विज्ञान के प्रसिद्ध एवम् उत्कृष्ट केन्द्र थे। वैदिक एवम् पौराणिक शिक्षा का प्रसिद्ध और प्रमुख केन्द्र कन्नौज था। कालान्तर में ज्ञान-विज्ञान के मार्ग पर सतत प्रवाहित इस ज्ञान-गंगा का प्रवाह मन्द पड़ गया अर्थात् ज्ञान की राह में रुकावटें उत्पन्न होने लगीं। अलंकारों की अधिकता ने पूर्व काव्यगत स्वाभाविकता एवम् ओज की धारा को धुँधला कर दिया तथा भाष्यों एवम् टीका-टिप्पणियों के बोझ से काव्यों में मौलिकता का अभाव-सा दिखाई देने लगा। “छठी से बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा ने राजनैतिक और सांस्कृतिक संबल पाकर साहित्य-रचना की प्रमुख भाषा के रूप में जो गौरव प्राप्त किया वह कई क्षेत्रीय भाषाओं के पृथक् विकास का भी कारण बना। समस्त अपभ्रंश क्षेत्र में साहित्य की परिनिष्ठित भाषा के समानान्तर स्थानीय बोलियों का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा था। अपभ्रंश ने संस्कृत से विद्रोह करके परिनिष्ठित होने का जो व्याकरणिक मार्ग अपनाया था उससे उसका प्रयोग जनसम्पर्क में अधिक उपयोगी नहीं रह गया था। फलतः बंगला, गुजराती, मराठी और मध्य देश में ‘भाषा’ नाम से अनेक जन-भाषा-रूप उभरते चले गए।”¹²

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में काश्मीर और काशी ही नहीं बंगाल में नदिया, दक्षिण भारत में तंजोर तथा महाराष्ट्र में कल्याण भी ज्ञान के केन्द्रों के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। कन्नौज तथा उज्जैन भी पूर्ववत् विद्या-केन्द्र बने रहे। ज्ञान के क्षेत्र में ज्योतिष, वैद्यक, संगीत, अलंकार-शास्त्र, दर्शन, धर्मशास्त्र, न्याय तथा व्याकरण आदि विषयों की प्रधानता थी। अतः गुप्तकाल की तरह इस समयावधि में भी काव्य प्रकाश, सिद्धान्तशिरोमणि, नैषधीयचरित, गीतगोविन्द तथा राजतरंगिणी जैसे महान एवम् प्रसिद्ध ग्रन्थ भारतीयों के मस्तिष्क एवम् प्रतिभा के ज्वलन्त उदाहरण बनकर प्रस्तुत हुए। इन ग्रन्थों की ज्ञानगंगा में अंगगाहन करने के उपरान्त सहज ही कहा जा सकता है कि भारतीय प्रतिभा ने इस युग को भी कुण्ठित नहीं होने दिया।

“अपभ्रंश साहित्य का सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि जिस व्यापकता और विशालता के साथ इसका आरम्भ हुआ वह अन्त तक न रही; बल्कि परवर्ती साहित्य के विषय और शैली में एक प्रकार की जड़ता दिखाई पड़ती है; फिर भी समग्र रूप में यह साहित्य उस युग के जातीय नवोन्मेष का प्रतिनिधि होकर ऊपर उठा। अपभ्रंश की प्रत्यग्रता का ठीक-ठीक अनुभव परवर्ती संस्कृत साहित्य की हासोन्मुख प्रवृत्तियों के परिपार्श्व में ही हो सकता है। अपभ्रंशकालीन संस्कृत साहित्य, उस नागर समाज की रूँधी हुई विचारधारा को प्रतिबिंबित करता है जो अपना ऐतिहासिक कार्य समाप्त कर चुकने पर सामाजिक विकास में बाधक हो रहा था। इस जड़ता से तत्कालीन संस्कृत साहित्य भी ग्रस्त दिखाई पड़ता है।”¹¹³ अतः भाषा की दृष्टि से यद्यपि संस्कृत तब तक उतनी प्रचलन में न रही थी, तथापि जनसामान्य के बीच उसने अपने गौरव एवम् मान को पूर्ववत् बनाये रखा था। लम्बे समय तक संस्कृत भाषा में ग्रन्थों का प्रणयन इस बात का साक्षी है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने भी अपने मतों एवम् सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार तथा अपने तीर्थकरों की स्तुति हेतु संस्कृत भाषा को भी माध्यम बनाया। संस्कृत के साथ-साथ उस समय प्राकृत भाषा भी व्यवहार में थी तथा अपभ्रंश ग्रन्थों की भी रचना प्रगति पर थी। बंगाल में 84 सिद्धों ने अपभ्रंश में रचनाएँ लिखकर अपभ्रंश साहित्य को पल्लवित एवम् पुष्पित किया तथा पालवंशी बौद्धों ने लोकभाषा को प्रोत्साहन दिया। राष्ट्रकूट राजाओं के आश्रय में स्वयंभू एवम् पुष्पदन्त जैसे अपभ्रंश भाषा के क्रान्तिदर्शी कवियों ने प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना करके अपभ्रंश साहित्य की श्रीवृद्धि की तथा उसे पर्याप्त समृद्ध भी किया। मुंज और भोज को प्राकृत भाषा से ही नहीं अपभ्रंश के प्रति भी विशिष्ट अनुराग था। इन सभी कवियों ने संस्कृत कवियों एवम् उनके साहित्य का गहन अध्ययन किया था। साक्ष्य के लिए पुष्पदन्त में बाण की श्लेष शैली को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि स्वयंभू ने भी संस्कृत के प्राचीन कवियों एवम् साहित्य के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त किया है, तथापि इन अपभ्रंश कवियों को तत्कालीन राजवर्ग से वैसा प्रोत्साहन कदापि न मिल सका जैसा संस्कृत कवियों को प्राप्त हुआ था। राजा लोगों का अभी तक संस्कृत और प्राकृत की ओर ही झुकाव बना हुआ था अथवा यों कहें कि अब भी उन्हें संस्कृत-प्राकृत साहित्य ही अधिक आकृष्ट कर रहा था।

चौदहवीं शताब्दी में भी भानुदत्त जैसे प्रसिद्ध आलंकारिक हुए जिन्होंने ‘गीतगौरीपति’ नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। तत्पश्चात् ‘नलाभ्युदय’ कार्तवीर्यविजय जैसे प्रसिद्ध संस्कृत काव्यग्रन्थ सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे। अपभ्रंश साहित्य की रचना-परम्परा भी सत्रहवीं शताब्दी तक चलती रही। उल्लेखनीय है कि चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में ही साहित्यिक रचनाएँ प्रादेशिक भाषा-साहित्य से प्रभावित होने लगी थीं, क्योंकि इस समय तक प्रादेशिक भाषाएँ भी साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित हो चुकी थीं तथा साहित्य में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करने लगी थीं।

निष्कर्षतः उपर्युक्त विवेचन एवम् विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश साहित्य का पृष्ठाधार बहुआयामी है। इसके अध्ययन एवम् विश्लेषण से नये-नये तथ्यों के उद्घाटन के साथ-साथ साहित्य तथा संस्कृति की कई परतें भी खुलती जाती हैं। गहराई में बैठकर देखने पर आँख खोल देनेवाली छवियाँ और अमूल्य निधियाँ भी उपलब्ध होंगी।

1. डॉ. नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 179, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. अपभ्रंश काव्यत्रयी की संस्कृत भूमिका से उद्धृत।
3. जयचंद विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृ. 178, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद।
4. डॉ. रमेश मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बेंगाल, भाग-1, पृ. 420-421।
5. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. 46, भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा-दिल्ली।
6. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 224।
7. गौरीशंकर ओझा, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 27, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग सन् 1928।
8. वही, पृ. 37।
9. डॉ. नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 289, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।
10. सी.वी. वैद्य, हिस्ट्री ऑफ मिडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग-2, पृ.183, ओरियन्टल बुक सप्लाइंग एजेन्सी, पूना, सन् 1924।
11. डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', अपभ्रंश भाषा का व्याकरण और साहित्य, पृ. 71, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
12. वही, पृ. 21।
13. डॉ. नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. 240, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

प्रवक्ता-हिन्दी विभाग
खन्ना बिल्डिंग के पीछे, शुगर फैक्ट्री गली,
म. न. 333, सुभाष नगर, बरेली (यू. पी.)

अपभ्रंश का चरिउ काव्य और उसकी परम्परा

— विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया

हिन्दी का पूर्व और अपूर्व रूप अपभ्रंश है। इसमें प्रणीत साहित्य आज प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। अपभ्रंश में महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य, रूपककाव्य, कथा और कथानक के विविध रूप तथा अन्य अनन्य लोक और लैकिक काव्य रूपों में काव्य की सर्जना हुई है। काव्य के अतिरिक्त अपभ्रंश में गद्य साहित्य भी रचा गया है।¹

अपभ्रंश के खण्ड काव्यों में 'चरिउ' काव्यरूप का प्रयोग और प्रचलन प्रचुर परिमाण में हुआ है। यहाँ 'अपभ्रंश का चरिउ काव्य और उसकी परम्परा' विषयक संक्षिप्त चर्चा करना वस्तुतः हमारा मूल अभिप्रेत है।

रसात्मक वाक्य को काव्य कहा गया है। श्रेष्ठ काव्य उसके पाठक तथा श्रोता के मन और मानस को छूता है। उसे पढ़ तथा सुनकर आह्लादित होना होता है। काव्याभिव्यक्ति पहले-पहल फूटकर जो रूप धारण करती है वही रूप कालान्तर में काव्य रूप बन जाता है। काव्य की अभिव्यक्ति के अनेक रूप बनते और विकास को प्राप्त होते हैं।²

चरिउ एक सशक्त काव्य रूप है। चरिउ का मूल उद्गम अपभ्रंश के आरम्भ से हुआ है। किसी पौराणिक पुरुष तथा धार्मिक महापुरुष का जीवनवृत्त और वृत्ति वैशिष्ट्य का कथात्मक शैली में रचा गया चरित वस्तुतः चरितकाव्य है।³ चरित अथवा चरित्र का अपभ्रंशरूप 'चरिउ'

कहलाता है। चरित शब्द का सामान्य अर्थ और अभिप्राय है - रहन-सहन, आचरण, किसी जीवन की विशेष घटनाओं और कार्यों आदि का वर्णन करना।¹ चरिउ-काव्य में प्रबंध और पुराण काव्य-रूपों का संकर रूप सम्मिलित है। चरित काव्य-रूप के निर्धारण में अपभ्रंश वाङ्मय के धार्मिक चरिउ काव्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।⁵

भाव-पक्ष और कला-पक्ष मिलकर किसी भी काव्य के रूप को स्वरूप प्रदान करते हैं। काव्य के भावपक्ष में कथा और कथानक, प्रकृति-चित्रण का वैविध्य तथा रस-निरूपण की प्रधानता रहती है। चरिउ-काव्य में भावपक्ष की दृष्टि से एक सुव्यवस्थित कथा और कथानक होता है जिसमें किसी महापुरुष अथवा तीर्थंकर के जीवन-चरित्र को व्यक्त किया जाता है। कथा-वर्णन में नायक-नायिका से सम्बन्धित नाना प्रसंगों में प्रकृति के विविध रूप और रंग चित्रित हुए हैं, जिनमें प्रकृति का आलम्बनकारी चित्रण, विशेषकर परिगणन की शैली के माध्यम से प्रकृति का प्रयोग हुआ है। नायक और नायिका की विरह-व्यथा को उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति का उद्दीपनकारी वर्णन भी चरिउ-काव्यों में यत्र-तत्र बन पड़ा है। भाव और भावाभिव्यक्ति को प्रभावक बनाने तथा अभिव्यक्ति में सरसता का संचार करने के लिए प्रकृति का आलंकारिक प्रकृति चित्रण भी चरिउ-काव्यों की अपनी विशेषता है।

चरित-काव्यों की रचना मूलतः पौराणिक रही है। ये काव्य रोमांटिक शैली में रचे गये हैं। पुराण नामक संज्ञा में कुछेक चरित-काव्य उपलब्ध हैं। रूप और स्वरूप की दृष्टि से इन पुराण और चरिउ काव्यों में कोई भेद नहीं है।⁶ पुराण और पौराणिक काव्यों में कथा का विस्तार व्यापक होता है, इसीलिये इन काव्यों में संधि-संख्या पचास से लेकर सवा सौ तक हो सकती है किन्तु चरित तथा चरिउ काव्यों में विषय-विस्तार अपेक्षाकृत मर्यादित होता है, इसीलिये इन काव्यों में संधि-संख्या प्रायः अधिक नहीं होती।⁷

चरित-काव्यों की विशेषताओं का मुख्य आधार उनके कथावृत्त पर निर्भर करता है। चरिउ काव्यों में नायक के चरित्र का वर्णन ऐतिहासिक और पौराणिक ढंग से किया जाता है। ऐसे कथावृत्तों के प्रारम्भ उसके पूर्वज माता-पिता तथा वंश आदि के उल्लेख के साथ होता है। जबकि पौराणिक पद्धति में उसके पूर्वज माता-पिता तथा वंश आदि के पूर्व भव-भवान्तरों के वृत्तान्त पर निर्भर करता है। ऐसे चरिउ काव्यों के नायकों के जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त अनेक भवों की कथा का उल्लेख किया जाता है।

नायक और नायिका के प्रेम का प्रारम्भ चित्र और स्वप्न-दर्शन तथा उनके गुणों की प्रशंसा और अनुशंसा सुनकर होता है। नायक-नायिका के वैवाहिक संस्कार में दीक्षित होने में अनेक विघ्न-बाधाओं का उत्पन्न होना इन काव्यों का प्रमुख लक्षण है। उल्लेखनीय बात यह है कि नायक और नायिका के संकट और संघर्षकाल में विद्याधर, यक्ष, गंधर्व तथा अन्य अनेक देवशक्तियाँ सहायता करती हैं।⁸ इन जीवन्त किन्तु प्रतिकूल घात-प्रतिघातों से जूझने के उपरान्त नायक और नायिका का मधुर मिलन करा दिया जाता है। ऐसे प्रसंगों में नायकगत प्रेम, वैराग्य,

धार्मिक तथा वीरता आदि गुणों का समन्वय मुखर हो उठा है। चरिउ-काव्यों का समापन नायक अथवा नायिका का किसी मुनि, आचार्य की प्रेरणा पाकर वैराग्यमुखी होता है, जिसमें कल्याणकारी उपदेशों तथा संसार की निस्सारता को उजागरकर आत्ममुखी होने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

इस प्रकार चरित काव्यों का आरम्भ जागतिक जीवन से प्रारम्भ होता है। जग-जीवन के नाना प्रसंगों को लेकर कवि जीवंत घात-प्रतिघातों को आकर्षक शैली में प्रस्तुत करता है। नायक के उद्देश्य पूर्ति में आनेवाले विविध विघ्न-बाधाओं का प्रसंग कथा में रोचकता और कौतूहल को जन्म देता है। ऐसे संदर्भों में काव्याभिव्यक्ति में श्रृंगार, करुण, वीर आदि नाना रसों के आस्वाद अनुभूत होते हैं किन्तु काव्य का समापन जागतिक जीवन की निस्सारता को सिद्ध कर देता है और काव्य के नायक अन्ततोगत्वा जिन-दीक्षा ग्रहणकर अपना शेष जीवन पुरुषार्थ चतुष्टय का अन्तिम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष प्राप्त्यर्थ तप और संयम-साधना में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार चरिउ काव्यों का अवसान शान्तरस प्रधान होता है।

भावपक्ष के अनुरूप इन काव्यों का कलापक्ष उत्कृष्टता को प्राप्त है। भावानुरूप भाषा, सटीक प्रयोग सर्वथा स्तुत्य रहा है। अपभ्रंश भाषा के व्याकरणिक लक्षणों और गुणों के साथ चरिउ काव्यों में सूक्तियों के प्रयोग से अभिव्यञ्जनापरक प्रभावना मुखर हो उठी है।

भाषा का अभिन्न अंग है - लोकोक्ति और मुहावरा। लोकोक्ति और मुहावरे लोक-जीवन में प्रचलित वे सिक्के हैं जिनका मूल्य कभी कम नहीं होता। कहावत और लोकोक्ति में प्रकार-भेद तो नहीं होता है, परन्तु स्तर-भेद अवश्य पाया जाता है। कहावत वस्तुतः उक्ति है, पर लोक से सम्बन्धित होने के कारण वह लोकोक्ति कही जाती है।⁹

'मुहावरा' भाषा के प्राण होते हैं। चरिउ-काव्यों में लोकोक्ति और कहावतों का सजीव और स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार इन काव्यों में मुहावरागत भावों, विचारों, दशाओं, क्रियाओं तथा चेष्टाओं आदि के चमत्कारिक लक्षणों का प्रयोग प्रतिपादित है। मुहावरे काव्य में उत्कर्ष उत्पन्न करने में अपना महत्त्व रखते हैं।¹⁰

छन्द काव्य-कला का प्रमुख अंग है। छन्द काव्य की नैसर्गिक आवश्यकता है।¹¹ छन्द और भाव का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। भावों के व्यवहार-विनिमय में छन्द-शक्ति का योगदान उल्लेखनीय है। चरिउ-काव्य में छन्दों का प्रयोग प्रभावनापूर्वक हुआ है। यद्यपि वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्द चरिउ काव्य में व्यवहृत हैं तथापि मात्रिक छन्दों की प्रधानता है। कड़वक शैली का प्रयोग चरिउ-काव्य की अन्यतम विशेषता है।

काव्यकला में अलंकारों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वमयी है। शब्द तथा अर्थ में सौष्ठव तथा शोभावर्द्धन की दृष्टि में शब्दालंकार और अर्थालंकार दो मुख्य भेद किये गये हैं। जहाँ काव्य में शाब्दिक सौन्दर्य और अर्थ वैशिष्ट्य एक साथ उत्पन्न हुआ हो, वहाँ उभयालंकार का रूप स्थिर होता है।¹² चरिउ काव्यों में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के काव्याभिव्यक्ति में लालित्य उत्पन्न करने के ब्याज से सहज प्रयोग बन पड़े हैं।

उपर्युक्त वाङ्मय में चरिउ-काव्य का काव्यशास्त्रीय वैशिष्ट्य और लोकप्रियता की दृष्टि से उल्लेखनीय अवदान है। अपभ्रंश में आठवीं शताब्दी से यह काव्य रूप कवियों के कण्ठ का हार बना रहा। यहाँ इस 'काव्य रूप' की परम्परा विषयक संक्षिप्त चर्चा करना असंगत न होगा।

अपभ्रंश चरिउ-काव्यों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। अपभ्रंश के चतुर्भुज आठवीं शती के कवि माने जाते हैं।¹³ इनके द्वारा रचित दो काव्य-कृतियों का उल्लेख मिलता है। एक कृति का नाम है - 'पंचमी चरिउ'। यह कृति अनुपलब्ध है।¹⁴ अपभ्रंश के सशक्त और रससिद्ध कवियों में महाकवि स्वयंभू का स्थान महत्त्वपूर्ण है। स्वयंभूकृत 'पउमचरिउ' उपलब्ध चरिउ-काव्यों की परम्परा में पहल करता है। यह वस्तुतः महाकाव्य शैली में प्रणीत एक बृहद् काव्य कृति है जो 90 संधियों में विभक्त बारह हजार छन्दों में पूर्ण हुआ है।¹⁵ इस महाकाव्यात्मक चरिउ काव्य में पद्म अर्थात् राम का जीवनवृत्त शब्दायित है। यह वस्तुतः जैन रामायण है। कवि ने इसके अतिरिक्त रिट्ठनेमिचरिउ को भी रचा है जिसमें जैन धर्म के 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ, श्रीकृष्ण और यादवों की कथा व्यक्त है। कवि का पंचमीचरिउ काव्य पद्मिण्या छन्द में प्रणीत है जिसमें नागकुमार की कथा अभिव्यक्त है।¹⁶

पुष्पदन्त दशवीं शती के प्रतिभासम्पन्न महाकवि थे। आपके द्वारा प्रणीत 'णायकुमारचरिउ', तथा 'जसहरचरिउ' काव्य उल्लेखनीय हैं। णायकुमारचरिउ काव्य में नागकुमार का जीवन अभिव्यक्त है। यह काव्य 9 संधियों में विभक्त है। कवि का जसहरचरिउ एक उत्कृष्ट खण्ड काव्य है जिसमें यशोधर का चरित्र चार संधियों में चर्चित है।¹⁷

ग्यारहवीं शती के सशक्त कविवर वीर द्वारा प्रणीत 'जंबुसामिचरिउ' में जम्बू स्वामी का वृत्तान्त ग्यारह संधियों में शब्दायित है। इस काव्य में काव्य शास्त्रीय लक्षणों का समावेश हुआ है।¹⁸ बारहवीं शताब्दी के यशस्वी कवि श्रीधर प्रथम द्वारा प्रणीत दो चरिउ काव्य ग्रंथ - 'पासणाह' तथा 'बड्ढमाण चरिउ' उपलब्ध हैं। इन काव्यों में पौराणिक कथा के सभी तत्त्व विद्यमान हैं।¹⁹ श्रीधर द्वितीय द्वारा रचित भविसयत्त चरिउ छह परिच्छेदों में 1530 छन्दों में गुम्फित सशक्त रचना है। यह काव्य कृति कड़वक शैली में पद्मिण्या छन्द-बद्ध है। इसी श्रेणी में श्रीधर तृतीय द्वारा रचित सुकुमाल चरिउ के 224 कड़वकों में सुकुमाल के पूर्वभवों के साथ वर्तमान जीवन का सुन्दर चित्रण किया गया है।²⁰

बारहवीं शती के कविवर देवसेन द्वारा प्रणीत 'सुलोयणाचरिउ' एक बृहद् 28 संधियों में गुम्फित काव्य है। इस चरिउकाव्य में भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति जयकुमार की पत्नी सुलोचना का जीवनवृत्त विविध छन्दों में वर्णित है। माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणों से सम्पन्न यह काव्य अपभ्रंश का महाकाव्य-सरीखा है।²¹ मुनिवर कनकामर प्रणीत करकंडचरिउ अपभ्रंश के साहित्य शास्त्र से अनुमोदित एक सरस चरिउकाव्य है, जिसमें महाराजा करकण्डु की कथा दश संधियों में व्यञ्जित है। कवि ने विभिन्न प्रकार के छन्द और अलंकारों की योजना द्वारा इस काव्य को सरस और प्रभावक बनाया है।²² कविवर देवचन्द्र की एकमात्र रचना 'पासणाहचरिउ'

उपलब्ध है जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व और वर्तमान भव की कथा प्रभावपूर्ण शैली में प्रस्तुत की गई है।²³

तेरहवीं शती के अपभ्रंश के सिद्ध कवि अमरकीर्ति गणि का नाम महत्त्वपूर्ण है। आपके द्वारा प्रणीत 'णेमिणाहचरिउ' अर्थात् नेमिनाथचरित, 'महावीरचरिउ' अर्थात् महावीरचरित तथा 'जसहरचरिउ' अर्थात् यशोधरचरित साहित्यिक काव्य कृतियाँ हैं। इसी शती के कविवर दामोदर द्वारा प्रणीत 'णेमिणाहचरिउ' उल्लेखनीय रचना है। इस चरिउ-काव्य में 22वें तीर्थकर नेमिनाथ की कथा अभिव्यक्त है। यह एक अर्थ प्रधान खण्डकाव्य है।²⁴

चौदहवीं शती के लक्ष्मणदेव कृत 'णेमिणाहचरिउ' चार संधियों/परिच्छेदों में 83 कडवक शैली में निबद्ध काव्य कृति है। इस चरिउ-काव्य में श्रावक और श्रमण आचार-विचार का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।²⁵ इस शती के सशक्त कवि रइधू अपभ्रंश के महाकवि हैं। आपने छोटी-बड़ी सैंतीस काव्य कृतियों की सर्जना की है जिनमें 'मेहेसरचरिउ', 'णेमिणाहचरिउ', 'पासणाहचरिउ', 'सम्मइजिणचरिउ', तिसट्टि महापुरिसचरिउ, बलहदचरिउ, जसहरचरिउ, सुक्कोसलचरिउ, सुंदसणचरिउ उल्लेखनीय चरिउ-काव्य हैं।²⁶ इन सभी चरिउ-काव्यों में पूर्व चर्चित कथावृत्त हैं जो कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा से अनूठी अभिव्यञ्जना की है।

कविवर धनपाल द्वितीय विरचित 'कामचरिउ' एक अभिनव चरिउ-काव्य है। इस में प्रथम कामदेव बाहुबली की कथा 18 संधियों में निबद्ध है। इसीलिये इस रचना को 'बाहुबलीचरिउ' भी कहा जाता है। यह काव्य साहित्य शास्त्र तथा काव्य सौन्दर्य से समलंकृत है। इसी धारा के अन्यतम कवि हरिचन्द द्वारा रचित 'बड्ढमाणचरिउ' काव्य का उल्लेख मिलता है। इसी काव्य का अपर नाम 'सेणियचरिउ' भी मिलता है। इस काव्य में भगवान् वर्द्धमान और श्रेणिक की जीवन-गाथा अंकित है। श्रेणिक तीर्थकर महावीर के प्रथम श्रोता थे। कविवर हरिदेव की एक-मात्र चर्चित रचना 'मयणपराजयचरिउ' दो परिच्छेदों में विभक्त है जिसमें क्रमशः 37 और 81 अर्थात् कुल 118 कडवक हैं। यह रचना वस्तुतः एक रूपक खण्डकाव्य है जिसमें कवि ने सैद्धान्तिक विषयों की चर्चा की है।²⁷

सोलहवीं शती के अपभ्रंश भाषा के सशक्त कवि हैं - तेजपाल ! आपने संभवणाह और वरंग नामक चरिउ-काव्यों का भी प्रणयन किया। इसमें सम्भवनाथ का जीवन-चरित्र पौराणिक पद्धति पर अभिव्यक्त है। दूसरे चरिउ-काव्य में वरांग का जीवन व्यञ्जित है। कविवर महीन्दु इस काल के सशक्त चरिउ-काव्य के प्रणेता हैं। 'संतिणाहचरिउ' काव्य में तीर्थकर शान्तिनाथ का जीवनवृत्त व्यञ्जित है। कवि माणिक्यराज विरचित णायकुमारचरिउ में मुनिवर अमरसेन का जीवनवृत्त सप्त संधियों में व्यञ्जित है।²⁸

इस प्रकार अपभ्रंश वाङ्मय की विकासोन्मुख काव्य-धारा आठवीं शती से आरम्भ होकर 16वीं शती तक निर्बाधरूप से प्रवाहित होती रही है। चरिउ-काव्य रूप का प्रयोग प्रत्येक शती में किया गया है। इतने लोकप्रिय काव्यरूप में अपभ्रंश के कवियों ने मध्यकालीन लोक संस्कृति

और सभ्यता, साहित्य, उपासना-पद्धति तथा उस समय में प्रचलित आचार-शास्त्र पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। अपभ्रंश कवियों ने तीर्थंकर महावीर की उत्तरकालीन परम्परा का निरन्तर निर्बाध निर्वाह किया है। विविध तीर्थंकरों, केवली भगवंतों तथा पौराणिक तथा राजकीय पुरुषों के जीवन-चरित्र, आचार-शास्त्र तथा व्रत-विधान आदि अनेक लोकप्रिय विषयों पर आधारित अनेक चरिउ-काव्यों की सर्जना हुई है।

इतनी सुदीर्घ परम्परा में नित्य और निरन्तर निर्बाध रूप से रचे गये चरिउ-काव्य पर गवेषणात्मक तथा काव्यशास्त्रीय अध्ययन और अनुशीलन की आवश्यकता है। इत्यलम्।

1. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृष्ठ 129-30।
2. हिन्दी का बारहमासा साहित्य, उसका इतिहास तथा अध्ययन, प्रथम अध्याय, डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया।
3. जैन हिन्दी कवियों के काव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन, प्रथम अध्याय, डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया।
4. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ 311।
5. हिन्दी काव्य रूपों का अध्ययन, डॉ. रामबाबू शर्मा, पृष्ठ 46।
6. पउमचरिउ की भूमिका, लेखक, डॉ. हरिवल्लभ भयाणी, पृष्ठ 15।
7. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, सम्पादक डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 44-45।
8. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ 170 से 176।
9. मुहावरा मीमांसा - डॉ. ओउम प्रकाश गुप्त, पृष्ठ 18-19।
10. अपभ्रंश काव्य में लोकोक्तियाँ और मुहावरे और हिन्दी पर उनका प्रभाव, डॉ. (श्रीमती) अलका प्रचंडिया।
11. जैन हिन्दी काव्य में छन्दो योजना, डॉ. आदित्य प्रचंडिया, पृष्ठ 10।
12. काव्यालंकार, रामबहोरी शुक्ल: वामन, पृष्ठ 111/2।
13. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 4, डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ 94-95।
14. वही, पृष्ठ 95।
15. पउमचरिउ, सभी भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
16. जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूराम 'प्रेमी', पृष्ठ 387।
17. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 4, डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ 112।
18. जंबूसामिचरिउ, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

19. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृष्ठ 210-11।
20. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 4, डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ 150।
21. वही, पृष्ठ 151 से 154।
22. करकण्डचरित, डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
23. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ 152-154।
24. वही, पृष्ठ 154-158।
25. वही, पृष्ठ 207-209।
26. महाकवि रङ्गू के साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, डॉ. राजाराम जैन, पृष्ठ 120।
27. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ 211-220।
28. वही, पृष्ठ 235-237।

मंगल कलश

394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड

अलीगढ़



उववणाइँ सुरमणकयहरिसइँ

जहिँ पंडुच्छुवणाइँ कयहरिसइँ
दलियइँ पीलियाइँ पयमलियइँ
जहिँ वेस व कलरवमुह रत्तिय
जहिँ छेत्तइँ णं पहियकलत्तइँ
उववणाइँ सुरमणकयहरिसइँ
कमलकोसे भमरहिँ महु पिज्जइ
जहिँ सुसरासण सोहियविग्गह
रायहंस वरकमलुक्कंठिय

कामिणिवयणाइँ व अइसरसइँ ।
धुत्तउलाइँ णाइँ मुहगलियइँ ।
णित्तु सुकरइ धण्ण सुयपंतिय ।
घणसासइँ मि ण मेरएँ चत्तइँ ।
भइसाल णंदणवणसरिसइँ ।
महुयराहँ अह एउ जि छज्जइ ।
कयसमरालीकेलिपरिग्गह ।
विलसइँ बहुविहपत्तपरिड्डिय ।

घत्ता- तहिँ पट्टणु णामें रायगिहु अत्थि सुरहँ णावइ णिलउ ।

महि-महिलएँ णियमुहि णिम्मविउ णाइँ कवोलपत्तु तिलउ ॥ 3 ॥

सुदंसणचरिउ 1.3

इस मगध देश में जैसे पांडु इक्षु वन अति सरस दिखाई देते थे, वैसे ही हर्ष से युक्त कामिनियों के मुख भी। इक्षु दंड उसी प्रकार दले, पीडे व पैरों से मले जाने पर रस प्रदान करते थे, जैसे धूर्तों के कुल दलन, पीडन और मर्दन से दंडित होकर मुख से लार बहाते हैं। जहाँ वेश्या मुख से राग आलापती हुई अनुरागपूर्वक नृत्य करती थी, धन्या (गृहिणी) भी गान करती हुई सुन्दर नृत्य करती थी व मधुरगीत गाती हुई (धान्य को कूट-कूट कर) चावल से तुष अलग करती थी; तथा शुकपंक्ति कलरव करती हुई (खेतों में या आँगन में सूखते हुए) धान को निस्तुष करते थे (धान को फुकल कर चावल खा जाते थे)। जहाँ खेत सघन शस्य से युक्त होते हुए अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, जिस प्रकार कि पथिकों की वियोगिनी स्त्रियाँ घनी साँसें लेती हुई भी अपनी कुल-मर्यादा का त्याग नहीं करतीं। वहाँ के उपवन रमण करनेवालों को हर्ष उत्पन्न करते हुए उस भद्रशाल युक्त नन्दनवन का अनुकरण करते थे, जो देवों के मन को आनन्ददायी है। कमलों के कोशों पर बैठकर भ्रमर मधु पीते थे, मधुकरों को यही शोभा देता है। जहाँ सुन्दर सरोवरों में अपने शोभायमान शरीरों सहित हंसिनी से क्रीड़ा करते हुए श्रेष्ठ कमलों के लिए उत्कंठित और नाना प्रकार के पत्रों पर स्थित राजहंस उसी प्रकार विलास कर रहे थे जिस प्रकार कि उत्तम धनुष से सुसज्जित शरीर, समरपंक्ति की क्रीड़ा का संकल्प किये हुए, श्रेष्ठ राज्यश्री के लिए उत्कंठित व नाना भाँति के सुभट पात्रों सहित उत्तम राजा शोभायमान होते हैं। ऐसे उस मगध देश में राजगृह नाम का नगर है, जैसे मानो देवों का निलय हो व जो मानो पृथ्वीरूपी महिला ने अपने मुख पर कपोलपत्र व तिलक रूप निर्माण किया हो

अनु. - डॉ. हीरालाल जै

पउमचरिउ तथा रामचरितमानस के वस्तुविधान का तुलनात्मक अध्ययन

— डॉ. मंजु शुक्ल



शब्दकोष में प्रायः 'वस्तु' का अर्थ इस प्रकार प्राप्त होता है - वास्तविक या कल्पित सत्ता, वे साधन या सामग्री जिससे कोई चीज बनी हो, इतिवृत्त इत्यादि। प्रमुखतः वास्तविक या कल्पित सत्ता अर्थ ही व्यवहार में आता है। यह बात हमेशा ध्यान में रखे जाने योग्य है कि वस्तुजगत् सैद्धांतिक रूप में मनुष्य-निरपेक्ष होता है किन्तु व्यवहार और निरे सैद्धांतिक रूप में अंतर करना आवश्यक है। वह वस्तुजगत् जो मानव-निरपेक्ष होता है मानव-चिंतन हेतु अग्राह्य होगा। वस्तुजगत् विराट है और मानव सीमित है। अस्तित्व संघर्ष के दौरान इन्द्रिय विकास के अनुपात में ही यह विराट् वस्तुजगत् को अपने अनुसार यथार्थ अथवा वास्तविक बनाता है। उस वस्तु-जगत् की चर्चा निरर्थक होगी जो अब तक किसी भी रूप में मानवीय बोध के दायरे में समेटा नहीं जा सकता।

वस्तु के संबंध में विचार करते समय यह स्पष्ट होना चाहिए कि उसे अंग्रेजी के Thing अर्थ में लिया जा रहा है या Matter के अर्थ में। वस्तुरूप अथवा वस्तुविधान जैसे पदों का यदि प्रयोग करें तो प्रयोगकर्ता को यह स्पष्ट होना चाहिए कि वह 'वस्तु' से क्या अर्थ संप्रेषित करना चाहता है।

यदि भारतीय साहित्यशास्त्र की आधारभूमि बनायें तो भारतीय साहित्यशास्त्र कोश में यह अनाधिकारिक या मुख्य कथा एवं प्रासंगिक कथा है इसे इतिवृत्त भी कहते हैं।

ध्वनि सिद्धांत में ध्वनि का एक भेद वस्तुध्वनि है। इसमें अलंकारशून्य वस्तु की ध्वनि होती है। वस्तुध्वनि में किसी तथ्यकथन की अभिव्यंजना होती है। यहाँ पर कथानक और तथ्यकथन को वस्तु कहा गया है। डॉ. नगेंद्र ने 'भारतीय साहित्यकोश' में वस्तु को इस प्रकार वर्णित किया है - "वस्तु भारतीय नाट्यशास्त्र में निरूपित रूपक के तीन तत्त्वों में से प्रथम है। अन्य दो तत्त्व हैं - नेता और रस। वस्तुतः वस्तु नाटक का मेरूदण्ड है।"

वस्तु-विषयक उपर्युक्त विवेचन अतिशास्त्रीय एवं अतियांत्रिक होने के कारण केवल इतिहास की वस्तु होकर रह गया है। आधुनिक नाटककारों की सर्जनात्मक प्रतिभा युग और विषय के अनुरूप नवीनतम वस्तुतंत्र का आविष्कार करने लगी है। साहित्यशास्त्र में वस्तु संबंधी चर्चा से पूर्ण वस्तु का सीधा संबंध मानव जीवन से ही था।

डॉ. गणपतिचंद गुप्त ने वैज्ञानिक तर्क पद्धति का निर्वाह करते हुए वस्तु तत्त्व को स्पष्ट किया है। उन्होंने अनेक अर्थों में से 'उपादान सामग्री' का अर्थ लेना ही उचित समझा है और इसे अंग्रेजी के मैटर का समानार्थक बतलाया है। उन्होंने शब्दकोष के अनुसार मैटर के विभिन्न अर्थ दिये हैं, यथा - (1) वह स्थूल पदार्थ जिसे ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से ग्रहण किया जा सके, (2) जिससे किसी वस्तु का निर्माण किया जाता है, (3) जो किसी निश्चित रूप को प्राप्त कर लेने पर किसी पदार्थ विशेष में परिणत हो जाता है। पहले अर्थ को साहित्य के लिए अनुपयोगी बताते हुए वे शेष दो अर्थों की ही चर्चा करते हैं। वास्तविकता यह है कि पहले अर्थ में ही शेष सारे अर्थों का आधार हुआ है।

यहाँ वस्तु की वास्तविकता स्पष्ट करती है और इन्द्रियबोध के माध्यम से ही मानव वस्तु की वास्तविकता से जुड़ता है। जिससे मानव इन्द्रियबोध के माध्यम से न जुड़ सके वह सैद्धांतिक रूप में उपस्थित होकर भी कला साहित्यादि की चर्चा में वस्तु का पद नहीं प्राप्त कर सकेगी।¹

'पउमचरिउ' तथा 'रामचरितमानस' के वस्तुविधान को तुलनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त भी उसके पूर्व में कई बिन्दु हैं जो कुछ साम्यता तथा कुछ वैषम्यता लिये हुए हैं। अतः यह तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखकर अंत तक किया गया है। क्रमबद्ध रूप में आद्योपांत यह अध्ययन अनेक बिंदुओं पर आधारित है जिसका क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है -

काव्यसृजन हेतु मूल प्रेरणा - स्वयंभू "पुणु अप्पणउं पायडमि रामायण कावे" (1.1.19) की भावना से प्रेरित होकर 'पउमचरिउ' की रचना हेतु प्रवृत्त होते हैं। इस पंक्ति से यह उद्भासित होता है कि कवि स्वयं को इस रामकथा के माध्यम से प्रकट कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. साठे का मत द्रष्टव्य है, वस्तुतः कवि की कृति ही उसके व्यक्तित्व की परिचायिका

होती है। यदि “कृति आत्मनिवेदनात्मक या आत्म-कथात्मक हो तथा यदि वह आत्मनिष्ठ शैली में प्रस्तुत की गई हो तो उसमें उसके कर्ता के व्यक्तित्व का स्पष्ट चित्र अंकित पाया जाता है।” यदि वह परम्परागत कथात्मक हो, कथनात्मक या वर्णनात्मक हो, तो एक दृष्टि से कर्ता के व्यक्तित्व के प्रतिबिंबित हो जाने की गुंजाइश उसमें कम होती है, फिर भी कोई भी कलाकृति परम्परागत सूत्रों के आधार पर विरचित प्रबंधकाव्यात्मक कृति भी अपने निर्माता के व्यक्तित्व के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त रह ही नहीं सकती। स्वयंभू रचित “पुणु अप्पणुं.....” वाली उक्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि उनके ‘पउमचरिउ’ के अंदर उनकी आत्माभिव्यक्ति हुई है।²

तुलसीदास ‘स्वांतः सुखाय’ की भावना से अभिभूत होकर ‘रामचरितमानस’ की रचना हेतु प्रवृत्त होते हैं।

स्वयंभू तथा तुलसी दोनों ही आत्मसुख को दृष्टि में रखकर काव्यसृजन हेतु प्रेरित होते हैं। दोनों ही कवियों का यह आत्मसुख कालांतर में लोकसुख में परिवर्तित हो गया।

सहायक आधारभूमि - स्वयंभू ने पूर्ववर्ती कवियों में मात्र चतुर्मुख के प्रति आभार प्रकट किया है परन्तु चतुर्मुख का साहित्य अनुपलब्ध होने के कारण यह निष्कर्ष निकालना असंभव है कि स्वयंभू ने ‘पउमचरिउ’ के सृजन में चतुर्मुख से किस प्रकार प्रेरणा तथा सहायता ग्रहण की? स्पष्टरूप से स्वयंभूकृत ‘पउमचरिउ’ पर विमलसूरिकृत ‘पउमचरियं’ का प्रभाव परिलक्षित होता है। स्वयंभू अपने शब्दों में रामकथा के उद्भव तथा विकास को शब्दांकित करते हुए कहते हैं कि परम्परापोषित तथा दीर्घगामी रामकथा को उन्होंने ‘बुद्धिँ अवगाहिय’ ग्रहण किया। स्पष्ट है कि स्वयंभू ने पारम्परिक रामकथा का अनुसरण अवश्य किया है परन्तु अपनी बुद्धि से। अर्थात् पारम्परिकता के साथ ही नवीनता एवं मौलिकता को भी समायोजित किया है। स्वयंभू ने प्राकृत में रचित विमलसूरिकृत ‘पउमचरिय’ तथा संस्कृत में रचित ‘पद्मपुराण’ को ही मुख्यरूप से आधारग्रंथ बनाया।

रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही तुलसीदास ने मानस की सहायक आधारभूमि का उल्लेख करते हुए कहा है - “नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।” तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से उन समस्त स्रोतों के प्रति आभार प्रदर्शित किया है जिनसे ‘मानस’ के सृजन हेतु सहायक दिशा प्राप्त हुई। वैसे मानस के सहायक आधारग्रंथों में वाल्मीकि रामायण, अध्यात्मरामायण, श्रीमद्भागवत, हनुमन्नाटक तथा प्रसन्नराघव इत्यादि मुख्य हैं।

‘पउमचरिउ’ तथा ‘रामचरितमानस’ की कथा का क्रमबद्ध तुलनात्मक विवेचन -

‘पउमचरिउ’ की रामकथा पाँच काण्डों या सर्गों में विभक्त है, ये सर्ग हैं -

1. विद्याधरकाण्ड
2. अयोध्याकाण्ड
3. सुंदरकाण्ड
4. युद्धकाण्ड
5. उत्तरकाण्ड

‘रामचरितमानस’ की रामकथा सात काण्डों में विभक्त है, ये काण्ड इस प्रकार हैं -

- | | |
|---------------|-------------------|
| 1. बालकाण्ड | 2. अयोध्याकाण्ड |
| 3. अरण्यकाण्ड | 4. किष्किंधाकाण्ड |
| 5. सुंदरकाण्ड | 6. लंकाकाण्ड |
| 7. उत्तरकाण्ड | |

कथावस्तु का तुलनात्मक अध्ययन - ‘पउमचरिउ’ तथा ‘रामचरितमानस’ में वर्णित रामकथा मूलतः तो समान है परन्तु कई घटनाओं तथा पात्रों के नामों प्रभृति में वैषम्य के कारण दोनों में भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। ‘पउमचरिउ’ में जिस रामकथा को स्वयंभू ने पाँच काण्डों में वर्णित किया ‘मानस’ में उसी कथा को तुलसी ने ‘सप्तसोपान’ में निबद्ध किया है। इस सम्बन्ध में डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन का मत द्रष्टव्य है - ‘पउमचरिउ’ और ‘रामचरितमानस’ के कथानकों की तुलना से यह बात सामने आती है कि एक में कुल पाँच काण्ड हैं तथा दूसरे में सात काण्ड। ‘मानस’ की मूलकथा का विभाजन ‘आदि रामायण’ के अनुसार सात सोपानों में है। चरिउ में सात काण्ड की कथा को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। ‘चरिउ’ का विद्याधरकाण्ड ‘मानस’ के बालकाण्ड की कथा को समेट लेता है। दोनों में अपनी-अपनी पौराणिक रूढ़ियों और काव्य सम्बन्धी मान्यताओं के निर्वाह के साथ पृष्ठभूमि और परंपरा का उल्लेख है। थोड़े से परिवर्तन के साथ अयोध्याकाण्ड और सुन्दरकाण्ड भी दोनों में लगभग समान हैं लेकिन ‘चरिउ’ में अरण्य और किष्किंधा काण्ड अलग से नहीं हैं, इनकी घटनाएँ उसके अयोध्याकाण्ड और सुंदरकाण्ड में आ जाती हैं। मानस के अरण्यकाण्ड की घटनाएँ (चंद्रनखा के अपमान से लेकर जटायु-युद्ध तक) चरिउ के अयोध्याकाण्ड में हैं तथा किष्किंधाकाण्ड की घटनाएँ (राम-सुग्रीव मिलन, सीता की खोज इत्यादि) चरिउ के सुंदरकाण्ड में हैं। वस्तुतः देखा जाये तो किष्किंधाकाण्ड और अरण्यकाण्ड की घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं और उन्हें एक काण्ड में रखा जा सकता है। स्वयंभू ने दोनों का एकीकरण न करते हुए एक को उसके पूर्व के काण्ड में जोड़ दिया है और दूसरे को उसके बाद के। इस प्रकार दो काण्डों की संख्या कम हो गई। लेकिन राम के प्रवृत्तिमूलक और उद्यमशील चरित्र को दोनों प्रधानता देते हैं।³

‘पउमचरिउ’ की कथा का प्रारम्भ ऋषभजिन की वंदना से होता है तथा इसके प्रथम काण्ड अर्थात् विद्याधरकाण्ड में क्रमशः ऋषभजिन की वंदना के उपरांत मुनिजनों की, आचार्यों की तथा चौबीस तीर्थंकरों की वंदना की गई है। इसके उपरांत कतिपय पारम्परिक निर्वहन के उपरांत रामकथा प्रथम संधि में ही तीर्थंकर महावीर के समवशरण से प्रारम्भ होती है। प्रथम काण्ड अर्थात् विद्याधरकाण्ड का प्रारम्भ तीर्थंकर महावीर के समवशरण से प्रारम्भ होता है। इस काण्ड में मुख्यतः ऋषभजिन का जन्म, रावण का जन्म, ‘दशानन’ नाम का आधार, रावण-विवाह, रावण की चारित्रिक विशेषताएँ, पवनंजय-अंजना प्रकरण, हनुमान का जन्म प्रभृति प्रसंग उल्लिखित हैं। ‘रामचरितमानस’ में प्रारम्भ में ‘पउमचरिउ’ की ही भाँति विभिन्न आराध्यों तथा लौकिक

पुरुषों हेतु वंदनाएँ वर्णित की गई हैं। स्वयंभू ने भी प्रारम्भ में जैन परम्परा अनुसार ऋषभजिन, मुनिजन, आचार्यजन तथा चौबीस तीर्थकरों की अभ्यर्थना की है। ध्यातव्य है कि तुलसी ने अभ्यर्थना के पूर्व मंगलाचरण भी लिपिबद्ध किया है। यहाँ पर एक अन्य तथ्य उल्लेखनीय है कि तुलसी ने न केवल 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में मंगलाचरण लिखा है वरन् प्रत्येक सोपान अर्थात् 'सप्तसोपान' का प्रारंभ मंगलाचरण से किया है। 'मानस' के बालकाण्ड (प्रथम सोपान) में मंगलाचरण के उपरांत 'याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद, शिव-सती प्रसंग, शिव-पार्वती विवाह, राम तथा रावण का जन्म, अहल्याउद्धार, राम-सीता विवाह प्रभृति वर्णित हैं।

'पउमचरिउ' के द्वितीय काण्ड अयोध्याकाण्ड में बाईस संधियाँ हैं। इस काण्ड का प्रारंभ विभीषण के प्रश्न से होता है जो वह सागरबुद्धि से दशानन के बारे में पूछता है। इस काण्ड में मुख्यतः दशरथ-कैकेयी विवाह, दशरथ को पुत्रोत्पत्ति, जनक के घर पुत्री सीता तथा पुत्र भामण्डल का जन्म, राम-सीता विवाह, राम-वन-गमन, शम्बूक-वध, चंद्रनखा-प्रसंग, सीता-हरण प्रसंग, रावण-सीता-संवाद तथा सीता-विभीषण संवाद प्रभृति हैं। ध्यातव्य है कि 'मानस' के प्रथम सोपान में ही राम-जन्म तथा राम-सीता विवाह का उल्लेख किया गया है जबकि 'पउमचरिउ' में ये दोनों ही प्रसंग द्वितीय काण्ड - अयोध्याकाण्ड में उल्लिखित हैं। 'मानस' के द्वितीय काण्ड - अयोध्याकाण्ड में मुख्यतः राम-वन-गमन, दशरथ-मरण, राम-निषाद-मिलन, भरत द्वारा राम को मनाने हेतु वन जाना, राम-भरत का वन में मिलन, राम-भरत का भावनात्मक वार्तालाप, राम द्वारा भरत को अपनी पादुका प्रदान करना, भरत का अयोध्या वापस लौटना, भरत द्वारा पादुका की स्थापना, भरत का नंदिग्राम में निवास करना, प्रभृति उल्लिखित हैं। ध्यातव्य है कि 'मानस' में राम-वन-गमन के उपरांत दशरथ मृत्युगति को प्राप्त हो जाते हैं जबकि 'पउमचरिउ' में दशरथ राम-वन-गमन के पश्चात् दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। 'मानस' के द्वितीय काण्ड में राम-भरत मिलन तथा भरत के अयोध्या तक लौटने की कथावस्तु वर्णित की गई है। 'पउमचरिउ' के द्वितीय काण्ड में सीता-हरण, सीता-रावण संवाद तथा सीता-विभीषण संवाद तक की कथावस्तु वर्णित की गई है।

'पउमचरिउ' के तीसरे काण्ड - सुंदरकाण्ड में राम तथा नकली सुग्रीव के मध्य युद्ध, हनुमान का लंका पहुँचकर सीता को राम की अँगूठी प्रदान करना, सीता द्वारा आत्मतुष्टि हेतु हनुमान की परीक्षा, हनुमान की मंदोदरी से झड़प, हनुमान द्वारा लंका में उत्पात, हनुमान तथा अक्षयकुमार में युद्ध, मेघनाद तथा हनुमान में संघर्ष, हनुमान तथा रावण में वार्तालाप, हनुमान की राम के पास वापसी तथा राम द्वारा युद्ध हेतु प्रस्थान व हंसद्वीप में पड़ाव प्रभृति घटनाएँ वर्णित की गई हैं। 'मानस' के तृतीय सोपान (अरण्यकाण्ड) में जयंत की कुटिलता, अत्रि-मिलन, सीता तथा अनसूया मिलन, राम का दण्डक वन में प्रवेश, राम-जटायु मिलन, पंचवटी निवास, शूर्पनखा प्रसंग, मारीच प्रसंग, सीता-हरण, जटायु-रावण युद्ध, कबंध-उद्धार, शबरी प्रसंग तथा पम्पासर सरोवर की ओर राम का प्रस्थान प्रभृति घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

‘पउमचरिउ’ के चतुर्थ काण्ड - युद्धकाण्ड में हंसद्वीप में राम की सेना को देखकर निशाचर सेना में खलबली, विभीषण द्वारा रावण को समझाना तथा रावण द्वारा विभीषण को अपमानित करना, विभीषण द्वारा राम से संधि, राम के दूत के रूप में अंगद का रावण के दरबार में जाना, राम तथा रावण पक्ष में युद्ध प्रारंभ, रावण द्वारा प्रयुक्त शक्ति से लक्ष्मण का आहत होना, राम का विलाप, विशल्या द्वारा लक्ष्मण का चेतन होना तथा लक्ष्मण-विशल्या-विवाह, लक्ष्मण के चेतन होने के समाचार को सुनकर रावण का क्रुद्ध होना, रावण द्वारा बहुरूपिणी विद्या की आराधना, हनुमान तथा सुग्रीव द्वारा रावण की पूजा-आराधना में विघ्न, रावण का विघ्न के उपरांत भी अडिग रहना, अंगद का लंका में प्रवेश, रावण की पूजा-आराधना में अंगद द्वारा विघ्न डालना परंतु रावण का अडिग रहकर बहुरूपिणी विद्या को सिद्ध कर लेना, मंदोदरी द्वारा रावण को समझाना परंतु रावण का युद्ध हेतु तत्पर रहना इत्यादि घटनाएँ वर्णित हैं। ‘मानस’ के चतुर्थ काण्ड - किष्किंधा काण्ड में राम से हनुमान का मिलना तथा राम एवं सुग्रीव की मित्रता, बालि-सुग्रीव युद्ध, बालि-उद्धार, तारा-विलाप, राम द्वारा तारा को उपदेश, सुग्रीव का राज्याभिषेक, अंगद का युवराजपद, सीता की खोज हेतु बंदरों का प्रस्थान, वानरों का समुद्र तट पर आना, सम्पाती से भेंट, समुद्र लौंघने का परामर्श, जाम्बवंत द्वारा हनुमानजी को बल की याद दिलाकर उत्साहित करना इत्यादि घटनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

‘पउमचरिउ’ के पाँचवें काण्ड में युद्ध की विभीषिका का वर्णन, लक्ष्मण के चक्र से रावण की मृत्यु होना, मंदोदरी व अंतःपुर की समस्त रानियों, विभीषण तथा निशाचरों का करुण क्रंदन, नारी के प्रति लोकमानस की धारणा, राम तथा लक्ष्मण का सीता से मिलन, शांतिनाथ के जिनालय में जाकर राम द्वारा जिनेंद्र भगवान की स्तुति, विभीषण का राज्याभिषेक, राम-सीता तथा लक्ष्मण का पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या आगमन, राम के अयोध्या-आगमन पर भरत, प्रजाजन तथा माताओं द्वारा स्वागत-सत्कार, राम का राज्याभिषेक, राम की सीता के प्रति विरक्ति, लोकापवाद, राम का सीता-निर्वासन का प्रस्ताव, लक्ष्मण का विरोध, सीता को वन में निर्वासित करना, सीता का वन में आत्मचिंतन, राजा वज्रजंघ द्वारा सीता को आश्रय देना, लवण-अंकुश का जन्म, राजा पृथु की कन्याओं से लवण-अंकुश का विवाह, नारद द्वारा लवण-अंकुश को राम तथा लक्ष्मण के बारे में बताना, कुद्ध होकर उनके द्वारा राम तथा लक्ष्मण पर चढ़ाई, राम-लक्ष्मण तथा लवण-अंकुश में युद्ध, नारद द्वारा राम-लक्ष्मण को सूचित करना कि लवण-अंकुश राम के पुत्र हैं, इसके पश्चात् युद्ध की समाप्ति, लवण-अंकुश का अयोध्या में प्रवेश, सीता हेतु राम का वन जाना, सीता का राम के साथ आना तथा स्वयं अग्नि-परीक्षा का प्रस्ताव रखना, अग्नि का सरोवर के रूप में परिवर्तित हो जाना, कमल पर आसीन सीता का सरोवर के मध्य से प्रकट होना, सीता द्वारा तत्पश्चात् दीक्षा ग्रहण कर लेना, सीता को इंद्रत्व की उपलब्धि, राजा श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणधर द्वारा राम, लक्ष्मण, सीता, लवण, अंकुश के पूर्वभवों का वर्णन, हनुमान द्वारा दीक्षा ग्रहण करना, इंद्र द्वारा राम की विरक्ति हेतु योजना बनाना तथा इसी योजनान्तर्गत लक्ष्मण की मृत्यु, राम का भ्रातृ-प्रेम तथा मोह, देवों द्वारा राम को समझाना, राम को आत्मबोध होना, राम

द्वारा दीक्षा ग्रहण करना, स्वर्ग में सीतेंद्र द्वारा राम की परीक्षा परंतु राम का अडिग रहना, इत्यादि घटनाएँ वर्णित की गई हैं। 'मानस' के पाँचवें काण्ड - सुन्दरकाण्ड में वर्णित प्रमुख घटनाएँ इस प्रकार हैं - हनुमान का लंका को प्रस्थान, सुरसा से भेंट, हनुमान की सीता से भेंट, हनुमान द्वारा अशोक वाटिका विध्वंस, लंकादहन, सीताजी से विदा लेना तथा उनका चूड़ामणि प्राप्त करना, मंदोदरी - रावण संवाद, विभीषण द्वारा रावण को समझाना तथा रावण द्वारा विभीषण का अपमान, विभीषण द्वारा राम के पास शरण लेना इत्यादि।

'मानस' के छठे काण्ड - लंका काण्ड में नल व नील द्वारा पुल बाँधना, राम द्वारा रामेश्वर की स्थापना, रामचंद्र का सेनासहित समुद्र पार उतरना, मंदोदरी द्वारा रावण को समझाना, अंगद का रावण की सभा में जाना, अंगद-रावण संवाद, युद्धारम्भ, लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध, लक्ष्मण को शक्ति लगाना, हनुमान का संजीवनी लाना, त्रिजटा-सीता संवाद, राम-रावण युद्ध, रावण-वध, विभीषण का राज्याभिषेक, सीता की अग्निपरीक्षा, पुष्पक विमान पर सीता तथा राम का अयोध्या आगमन, प्रभृति उल्लिखित हैं।

'मानस' के सातवें तथा अंतिम काण्ड - उत्तरकाण्ड में राम का अयोध्या में स्वागत, राम-राज्याभिषेक, वानरों तथा निषाद की विदाई, रामराज्य का वर्णन, शिव-पार्वती संवाद, गरुड़ का काकभुशुण्डि से राम-कथा सुनना, ज्ञान तथा भक्ति की महिमा का वर्णन, रामायण माहात्म्य वर्णित करना प्रभृति को मुख्य प्रतिपाद्य बनाया गया है।

1. डॉ. इंदु वशिष्ठ, 'दिनकर के काव्य में वस्तु विधान', पृ. 87, डी. लिट. शोध प्रबंध 1986, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
2. डॉ. गजानन नरसिंह साठे, जैनविद्या-1 (शोध पत्रिका) स्वयंभू विशेषांक, अप्रैल 1984, पृ. 9, जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी, जयपुर।
3. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' विद्याधर काण्ड (प्रथम भाग), पृ. 18, चौथा संस्करण 1989, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

20, गोपालनगर

पो. आ. आलमबाग, लखनऊ-226023

अणमंथियउअहि व अपयखोहु

उज्जाणवणु व उचुंगसालु
तियसिंदु व विबुहयणहो मणिट्टु
वम्महु जिह रइपीईसमिद्धु
वम्महु जिह णिम्मलधम्मसज्जु
अणमंथियउअहि व रयणठाणु
अणमंथियउअहि व अपयखोहु
अणमंथियउअहि व अमयजुत्तु
अणमंथियउअहि व सुरहिवासु

उल्लसियसोणपेसलपवालुलु ।
रंभापरिरंभिउ सइं गरिट्टु ।
णहयल परिघोलिरमयरचिंधु ।
उप्फुल्लियकुसुमसरु मणोज्जु ।
मणहरणसुरालउ सिरिणिहाणु ।
तह दिव्वतुरयकरिवरससोहु ।
परमहिहरिदउक्कंपचत्तु ।
असमच्छर जणविरइयविलासु ।

घत्ता- तर्हि अरिथ कित्ति धवलियभुवणु रिद्धिँ हसियसुरेसरु ।

चेल्लणमहएवी परियरिउ सेणिउ णाम णरेसरु ॥ 4 ॥

सुदंसणचरिउ 1.4

वह नगर ऊँचे शालवृक्षों तथा उल्लसित लाल सुन्दर कोपलोंवाले उद्यानवन के सदृश ऊँचे कोटसहित, रक्तमणि व सुन्दर प्रवालों से चमकता था। वह बुद्धिमानों के लिए उसी प्रकार प्यारा था, कदली वृक्षों से भरा था, व गरिष्ठ था, जैसा कि देवेन्द्र देवों को प्यारा है, रम्भा अप्सरा से आलिंगित है, तथा स्वयं गरिमा को प्राप्त है। वहाँ रति और प्रीति की खूब समृद्धि थी; तथा आकाश में वहाँ की मकराकृति ध्वजाएँ फहरा रही थीं; अतएव जो कामदेव के समान दिखाई देता था, जो रति और प्रीति नामक देवियों से युक्त है, और जिसकी ध्वजा मकराकार है। वह नगर निर्मल धर्म से सुसज्जित तथा प्रफुल्लित पुष्पों वाले मनोज्ञ सरोवरों के द्वारा उस मन्मथ के समान था जो निर्मल धनुष से सज्जित तथा पुष्पवाणों से मनोज्ञ है। वह रत्नों का स्थान, मनोहर देवालय युक्त व सम्पत्ति का निधान होने से उस अमथित उदधि के समान था जो रत्नों का आगार, मनोहर सुरा का आलय तथा श्री का निधान था। वहाँ की प्रजा में कभी क्षोभ नहीं होता था और वह दिव्य तरङ्गों तथा श्रेष्ठ हाथियों से शोभायमान था, जिससे वह नगर मन्थन से पूर्वकालीन उदधि के समान था, जिसके जल में मंथन का क्षोभ नहीं हुआ था; और जो दिव्य अश्व और उत्तम हाथी रूपी रत्नों से शोभायमान था। अमृतयुक्त व मेरूपर्वत द्वारा उत्पन्न कंप से रहित मन्थन से पूर्व उदधि के समान वह नगर मद-मान से रहित तथा सर्पों व वानरों के विशेष उपद्रव से सुरक्षित था। सुरा के निवास तथा असाधारण अप्सरा जनों के विलास से युक्त अमथित उदधि के समान वह नगर सुगन्धित द्रव्यों से युक्त एवं ईर्ष्या से मुक्त लोगों का क्रीड़ास्थल था। ऐसे उस राजगृह नगर में अपनी कीर्ति से भुवनमात्र को धवलित करनेवाला एवं ऋद्धि से सुरेन्द्र का भी उपहास करनेवाला राजा श्रेणिक अपनी चलना नामक महादेवी सहित राज्य करता था।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

‘णायकुमारचरिउ’ का साहित्यिक सौन्दर्य

— डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

अपभ्रंश के श्रेष्ठ काव्यों में ‘णायकुमारचरिउ’ का उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है। इसके प्रणेता महाकवि पुष्पदन्त (ईसा की दसवीं शती : 972 ई.) अपभ्रंश के पारगामी विद्वान् थे। इनके द्वारा विरचित तीन अपभ्रंश-काव्य - ‘महापुराण’, ‘जसहरचरिउ’ और ‘णायकुमारचरिउ’, ‘महत्त्रयी’ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ‘णायकुमारचरिउ’ (< सं. ‘नागकुमारचरितम्’) का नायक नागकुमार है जो एक राजकुमार है। किन्तु, उसकी नियति है कि वह अपने सौतेले भाई श्रीधर (> अप. ‘सिरिहर’) की दुरभिसन्धिवश अपने ही पिता द्वारा प्राप्त निर्वासन-दण्ड की दारुण यन्त्रणा झेलता है जिससे कि उसे देश-देशान्तर में भटकने को विवश होना पड़ता है।

नागकुमार कलावन्त और वीर युवा था। परिभ्रमणकाल में वह अपने अदम्य शौर्य और विस्मयकारी कला-चातुर्य से अनेक राजाओं और राजपुरुषों को प्रभावित करने में सफल होता है। बड़े-बड़े योद्धा उसकी सेवा में आ जुटते हैं। वह अनेक राजकुमारियों से विवाह करता है। अन्ततः वह पिता द्वारा आमन्त्रित होकर अपनी राजधानी लौट आता है और राज्याभिषिक्त होता है। जीवन के अन्तिम चरण में वह संसार से विरक्त होकर मोक्षमार्ग का अनुसरण करता है।

इस काव्य की कथावस्तु की संरचना वाल्मीकि रामायण के समानान्तर है। उस रामायण में भी चरितनायक राजकुमार राम अपने वैमात्रेय भाई भरत की माता कैकेयी की दुरभिसन्धिवश,

पिता की आज्ञा से, प्रवासी या वनवासी बनने को विवश होते हैं। अन्त में महाबलशाली लंकाधिपति को जीतकर अपनी राजधानी अयोध्या लौटते हैं और राज्याभिषिक्त होते हैं। और फिर, जीवन के अन्तिम चरण में वह ब्रह्मा के आदेश से आत्मस्वरूप में अवस्थित होकर सशरीर भाइयों के साथ वैष्णव तेज से मण्डित परमधाम में प्रविष्ट हो जाते हैं।

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः ॥

(वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 117.12)

मुनि वाल्मीकि-रचित संस्कृत रामायण की संरचना ने परवर्ती संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश-कथा साहित्य को गहराई से प्रभावित किया है। महाभारत में पाण्डवों के वनवास और अज्ञातवास की भी यही संरचना है। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' (बुधस्वामी), 'कथासरित्सागर' (सोमदेव) और 'बृहत्कथामंजरी' (क्षेमेन्द्र) के अनुसार, गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' (> प्रा. 'बड्कहा') की भी यही संरचना पाई जाती है। 'वसुदेवहिण्डी' (आचार्य संघदासगणी : ईसवी तृतीय-चतुर्थ शती) की भी यही कथा-संरचना है। इसमें भी वसुदेव के, जो कृष्ण के पिता थे, अज्ञातवास और प्रवास की ही कथा है। इतना ही नहीं, इस प्रकार की तमाम चरित-रचनाओं की निर्मिति इसी संरचना (पैटर्न) के आधार पर हुई है।

इस प्रकार की संरचना में कथानायक को संकीर्ण परिवेश से मुक्त होकर अनेक कठिन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में परीक्षा के तौर पर संकट की आँच में तपकर कुन्दन बनने और अपने साहस, शौर्य, कला-नैपुण्य आदि असाधारण मानवीय गुणों को प्रकट करने का अनुकूल अवसर प्राप्त होता है और इससे उसके चारित्रिक विकास का स्पृहणीय और अनुकरणीय आदर्श भी प्रस्तुत होता है।

इस प्रकार के प्रवास-प्रसंग की स्थिति में कथाकार को कथावस्तु के विकास और घटनाओं के वैविध्य-चित्रण का भी उपयुक्त अवसर प्राप्त होता है, साथ ही उसे व्यापक प्रकृति-चित्रण, मनोरम ऋतु-वर्णन और स्त्री-पुरुषों के भाव-वैचित्र्य के मौलिक विनियोग एवं रसपेशल सौन्दर्य के विभावन का विस्तृत फलक उपलब्ध होता है। 'णायकुमारचरित' में इस प्रकार की संरचनामूलक समस्त सुविधाएँ महाकवि पुष्पदन्त को सुलभ हुई हैं। इससे इस काव्य की रचना में उन सभी गुणों का समावेश हुआ है, जिनकी महाकाव्य में विद्यमानता को काव्यशास्त्रियों ने आवश्यक बताया है। इस प्रकार कुल नौ सन्धियों (परिच्छेदों) में पल्लवित कथावस्तु से समन्वित 'णायकुमारचरित' काव्य अपभ्रंश का महनीय काव्य बन गया है।

उपलभ्य अपभ्रंश-काव्यों में दो प्रबन्ध-काव्यों का ऐतिहासिक तथा क्रोशशिलात्मक महत्त्व है। महाकवि स्वयम्भू-कृत ये दोनों काव्य हैं - 'पउमचरित' और 'रिट्टणेमिचरित'। पहला काव्य अपभ्रंश का रामायण है, तो दूसरा अपभ्रंश का महाभारत। इन दोनों महाकाव्यों की ऐतिहासिक भूमिका इस अर्थ में है कि इन दोनों ने अपभ्रंश-भाषा को साधारण जनसमाज से विद्वत्समाज

में प्रतिष्ठित किया, जहाँ वह हेय दृष्टि से देखी जाती थी। इसी अपभ्रंश-भाषा ने महाकवि पुष्पदन्त के काल में टकसाली साहित्य का रूप ग्रहण किया और अपेक्षित रूप में परिमार्जित और परिशोधित होकर वह समस्त साहित्यिक गुणों से परिपूर्ण प्रबन्धकाव्यों का सशक्त भाषा-माध्यम बन गई। पुष्पदन्त ने अपनी प्रज्ञाप्रौढ़ काव्य-रचनाओं द्वारा उसे ततोऽधिक समृद्धि प्रदान की। फलतः, अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य संस्कृत और प्राकृत के उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्यों के समकक्ष समादृत हुए।

जो व्यक्ति जायसी-कृत 'पद्मावत' और तुलसीदासकृत रामायण - 'रामचरितमानस' के रचना-प्रकल्प से परिचित हैं उन्हें अपभ्रंश-काव्यों की रचना-शैली को आत्मसात् करने में कोई असुविधा नहीं होगी। जायसी के 'पद्मावत' और तुलसी के 'मानस' की रचना-विधि में दोहा-चौपाई का जो विधान है वह अपभ्रंश-काव्य में प्राप्य घत्ता-कडवक की रचना-पद्धति की ही देन है। संस्कृत-प्राकृत की काव्यधारा में, सर्वप्रथम अपभ्रंश में ही अन्त्यानुप्रास की प्रणाली का अनिवार्य रूप से प्रयोग पाया जाता है, जिसे हिन्दी-काव्य में तुकान्तता अथवा तुकबन्दी कहते हैं। अपभ्रंश-काव्य का यह रचना-वैशिष्ट्य 'णायकुमारचरित' में भी उपलब्ध है। रचना-प्रकल्प में छान्दस वैविध्य और वैचित्र्य का विनियोग अपभ्रंश-काव्य की अपनी पहचान है। 'णायकुमारचरित' की छन्दोयोजना का विवेचन स्वतन्त्र आलेख का विषय है।

नागकुमार का जीवनचरित जैनकवियों में प्रिय रहा है। इसमें वर्णित मिथक, कल्पना और इतिहास-मिश्रित घटनाएँ स्वभावतः अतिरंजित और नन्दतिक ('रोमाण्टिक') हैं। महाकवि पुष्पदन्त पहले शैव थे, बाद में जैन हुए। इसलिए इन्होंने 'णायकुमारचरित' में पूर्व-संस्कारवश विरक्तिमूलक जैनधर्म के प्रस्तवन के क्रम में, रोमाण्टिक कथाकाव्यों के समान, धर्म के अनुष्ठान का फल प्रचुर ऐहिक भोगों की उपलब्धि दिखाया है। किन्तु, अन्त में जैनधर्म के अनुकूल काव्य का नायक सबकुछ भोगने के बाद दीक्षा ग्रहण कर मोक्षमार्गी हो जाता है।

'णायकुमारचरित' की कथा में समाहित कलातत्त्व की वरेण्यता के कारण ही इसके साहित्यिक सौन्दर्य का अपना विशिष्ट मूल्य है। विकसित कला-तत्त्व से संवलित 'णायकुमारचरित' की कथा न केवल साहित्यशास्त्र, अपितु सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करती है। साहित्यिक सौन्दर्य के विधायक तत्त्वों में पदशय्या की चारुता, अभिव्यक्ति की वक्रता, वचोभंगी का चमत्कार, भावों की विच्छित्ति, अलंकारों की शोभा, रस का परिपाक, रमणीय कल्पना, हृदयावर्जक बिम्ब, रम्य-रुचिर प्रतीक आदि प्रमुख हैं। 'णायकुमारचरित' में इन समस्त तत्त्वों का यथायथ विनियोग हुआ है। 'णायकुमारचरित' रूप, शैली और अभिव्यक्ति - कलाचेतना की इन तीनों व्यावर्तक विशेषताओं से विमण्डित है।

महाकवि पुष्पदन्त ने 'णायकुमारचरित' के पात्र-पात्रियों और उनके कार्य-व्यापारों को चित्रात्मक रूप देने में श्लाघनीय प्रयत्न किया है। कालचेता कवि पुष्पदन्त ने लोक-मर्यादा, वेश-भूषा, आभूषण-परिच्छद, संगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र, खान-पान आदि कलात्मक एवं सांस्कृतिक

उपकरणों तथा शब्दशक्ति, रस, रीति, गुण, अलंकार आदि साहित्यिक साधनों का अपने इस काव्य में यथाप्रसंग बड़ी समीचीनता से विनिवेश किया है।

प्राचीन संस्कृत-कवियों की भाँति पुष्पदन्त की सौन्दर्यमूलक मान्यता पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों के मत से साम्य रखती है। वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यवादी पाश्चात्य मनीषियों का कथन है कि सौन्दर्य वस्तु में होता है, द्रष्टा के मन में नहीं। अतः जो वस्तु सुन्दर है वह सर्वदा और सर्वत्र सुन्दर है। पुष्पदन्त ने भी 'णायकुमारचरित' में राजा श्रीवर्म की कन्या, जो केवल कण्ठहार पहने हुए थी, अधिक अलंकृत न होकर भी अपने शरीर की नैसर्गिक शोभा, जैसे नख की चमक, मोतियों की छटा को मात करनेवाली दन्तपंक्तियों और धनुषाकार विमोहक भौंहों से ही अतिशय रूपवती लगती थी (द्रष्टव्य : 1.17)।

सौन्दर्य-विवेचन में, विशेषतः नख-शिख के सौन्दर्योद्भावन में महाकवि ने उदात्तता (सब्लाइमेशन) की भरपूर विनियुक्ति की है। उक्त राजकन्या के सौन्दर्यांकन में भी महाकवि ने उदात्तता से काम लिया है। इसी क्रम में वधू से वर की शोभा का एक प्रसंग द्रष्टव्य है, जिसमें दृष्टान्त के माध्यम से शोभा की अतिशयता को दरसाया गया है -

सोहइ जलहरु सुरधणुछायए, सोहइ णरवरु सच्चए वायए।
 सोहइ कइयणु कहए सुबद्धए, सोहइ साहउ विज्जए सिद्धए।
 सोहइ मुणिवरिदु मणसुद्धिए, सोहइ महिवइ णिम्मलबुद्धिए।
 सोहइ मंति मंतविहिदिट्टिए, सोहइ किंकरु असिवरलट्टिए।
 सोहइ पाउसु साससमिद्धिए, सोहइ विहउ सपरियणरिद्धिए।
 सोहइ माणुसु गुणसंपत्तिए, सोहइ कज्जारंभ समत्तिए।
 सोहइ महिरुहु कुसुमियसाहए, सोहइ सुहडु सुपोरिसराहए।
 सोहइ माहउ उरयललच्छिए, सोहइ वरु वहुयए धवलच्छिए। 9.3।

अर्थात्, जिस प्रकार मेघ इन्द्रधनुष की कान्ति से, श्रेष्ठ मनुष्य सत्यवाणी से, कवि अपनी रमणीय कथा से, साधु अपनी सिद्ध विद्या से, मुनि मन की शुद्धि से, राजा निर्मल बुद्धि से, मन्त्री मन्त्रणा-युक्ति से, सेवक उत्तम खड्गदण्ड से, वर्षा सस्य की समृद्धि से, वैभव परिजनों की सम्पन्नता से, मनुष्य अपने गुण-वैभव से, कार्य का आरम्भ निर्विघ्न समाप्ति से, वृक्ष पुष्पित शाखाओं से, सुभट अपने पौरुष के तेज से और विष्णु अपने वक्षःस्थल पर विराजित लक्ष्मी से शोभित होते हैं उसी प्रकार वर की शोभा उसकी प्रशस्त आँखोंवाली वधू से होती है।

बिम्ब साहित्यिक सौन्दर्य के प्रमुख अंगों में एक है। बिम्बविधान कला का क्रियापक्ष है और बिम्बों के कल्पना से उद्भूत होने के कारण उनके विधान के समय कल्पना सतत कार्यशील रहती है। बिम्ब-विधान विभिन्न इन्द्रियों, जैसे - चक्षु, घ्राण, श्रवण, स्पर्श, आस्वाद आदि के माध्यम से होता है। बिम्ब एक प्रकार का रूप-विधान है और ऐन्द्रिय आकर्षण ही कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। रूप-विधान होने के कारण ही अधिकांश बिम्ब दृश्य

अथवा चाक्षुष होते हैं। यहाँ मगधदेश के राजगृह की शोभा के मानवीकरण से निर्मित रूपक और उत्प्रेक्षामूलक चाक्षुष बिम्ब द्रष्टव्य हैं -

घत्ता - तहिं पुरवरु णामें रायगिहु कणयरयणकोडिहिं घडिउ।
बलिबंड धरंतह सुखइहिं णं सुरणयरु गयणपडिह॥

कडवक - जोयइ व कमलसरलोयणेहिं, णच्चइ व पवणहल्लियवणेहिं।
ल्लिक्कइ व ललियवल्लीहरेहिं, उल्लसइ व बहुजिणवरहरेहिं।
वणियउ व विसमवम्महसरेहिं, कणइ व रयपारावयसरेहिं।
परिहइ व सपरिहाधरियणीरु, पंगुरइ व सियपायारचीरु।
णं धरसिहरग्गहिं सग्गु छिवइ, णं चंदअमियधाराउ पियइ।
कुंकुमछडएं णं रइहि रंगु, णावइ दक्खालिय-सुहपसंगु।
विरइयमोत्तियरंगावलीहिं, जं भूसिउणं हारावलीहिं।
चिंधेहिं धरिय णं पंचवण्णु, चउवण्णजणेण वि अइखण्णु। (1.6-7)

अर्थात् राजगृह नगर मानो कमलसर-रूप नेत्रों से देखता था; पवन-कम्पित वनों से वह जैसे नाचता-सा प्रतीत होता था तथा ललित लतागृहों में मानो लुकाछिपी खेलता था; अनेक जिनमन्दिर उसके उल्लास जैसे लगते थे; पारावत पक्षियों के स्वर से वह कामबाण से आहत होकर चीखता-सा लगता था; अपनी चारों ओर की परिखा के जल से वह वस्त्रावृत जैसा लग रहा था; अपने सफेद परकोटों से वह चादर ओढ़ा हुआ-सा लग रहा था; वह अपने गगनचुम्बी गृहशिखरों से चन्द्रमा की अमृतधारा का पान करता-सा दिखाई पड़ता था, कुंकुम की छटा से वह रति की रंगभूमि जैसा बन गया था; मोतियों से बनी रंगावलियों से वह मानो हार से विभूषित हो रहा था और अपनी रंगबिरंगी ऊँची ध्वजाओं से वह जैसे पँचरंगा बन गया था। इस प्रकार, चार वर्णों के समुदाय से समन्वित राजगृह अतिशय रमणीक प्रतीत होता था। वह उत्तम नगर राजगृह स्वर्ण और रत्नों से गढ़ा गया था। वह ऐसा लगता था जैसे देवेन्द्र द्वारा दृढ़ता से धारण किये जाने के बावजूद देवनगर उनसे छूटकर आकाश से धरती पर आ गिरा हो।

इस काव्यांश में चाक्षुष बिम्ब के अतिरिक्त नगर के नाचने के दृश्य के कारण चाक्षुष बिम्ब में गत्वरता भी है, साथ ही नगर के पारावत-स्वर के व्याज से चीखने के दृश्य में श्राव्य बिम्ब का भी विनियोग हुआ है। कुल मिलाकर, प्रस्तुत अवतरण में चाक्षुष बिम्ब (ऑप्टिक इमेज) का हृदयहारी विधान हुआ है। प्रस्तुत ऐन्द्रिय बिम्ब में दृश्य के सादृश्य पर रूप-विधान तो हुआ ही है, उत्प्रेक्षा और रूपक के द्वारा भी संवेदना या तीब्रानुभूति की प्रतिकृति के माध्यम से स्थापत्य-बिम्ब का चिन्ताह्लादक विधान हुआ है।

‘णायकुमारचरिउ’ की कथाबद्ध भाषा सातिशय विलक्षण है। इसकी काव्यभाषा आस्वादात्मणीय है। इसकी भाषा की संरचना-शैली अलंकृत है। सौन्दर्यमूलक प्रसंगों के उपस्थापन में महाकवि पुष्पदन्त ने अतिशय अलंकृत भाषा के प्रयोग में भी चूडान्त दक्षता का

प्रदर्शन किया है। इनके काव्य-निबन्धन में प्रांजलता और प्रवाहशीलता, दोनों ही उदात्त गुणों का सहज समावेश हुआ है। फलतः, इस काव्य में शब्द, अर्थ और भाव - तीनों का आनुक्रमिक साहचर्य मिलता है। महाकवि ने नागकुमार के चरित के माध्यम से केवल उत्कृष्ट भारतीय जीवन का ही चित्रण नहीं किया है, अपितु कथा को शाश्वतता प्रदान करनेवाली आदर्श काव्यभाषा का भी भव्यतम प्रतिमान प्रस्तुत किया है।

सहजता और सरसता 'णायकुमारचरित' की भाषा की ततोऽधिक उल्लेखनीय विशेषता है। यहाँ तक कि समासबहुल गौडी शैली में निबद्ध काव्यभाषा की अलंकृत पदशय्या अपनी तरलता की मोहकता से सहृदय की भावचेतना को सहसा आविष्ट कर लेनेवाली है। इस सन्दर्भ में राजगृह के विपुलाचल पर अवस्थित महावीर जिनेन्द्र की स्तुति की कतिपय काव्यपंक्तियाँ उदाहरणीय हैं -

सुरणरविसहरवरखयरसरणु, कुसुमसरपहरहरसमवसरणु।
 पइसरइ णिवइ पहु सरइथुणइ, बहुभवभवकयरयपडलु धुणइ।
 जय थियपरिमियणहकुडिलचिहुर, जय पयणयजणवयणिडयविहुर।
 जय समय समयमयतिमिरमिहिर, जय सुरगिरिधिर मयरहरगहिर।
 जय तियसमउडमणिलिहियचलण, जय विसमविसयविसविडविजलण।
 जय णरयविवरगुरुवडण धरण, जय समियकलुस जरमरणहरण।
 जय दसदिसिगयजसपसरधवल, णियणयबलविणिहयकुणययवल।
 जय खमदमसमजमणिवहणिलय, गयणयलगरुय मुअणयलतिलय।
 जय गुणमणिणिहि परिपलियहरिस, जय जय जिणवर जय परमपुरिसा। (1.11)

महाकवि पुष्पदन्त प्रसंगानुसार कोमल के साथ ही परुष बिम्बों के विधान में भी अतिशय निपुण हैं। इस सन्दर्भ में, प्रवाहशील काव्यभाषा के माध्यम से निर्मित संग्राम के दृश्य का परुष बिम्ब द्रष्टव्य है -

ता णिट्ठुरकर, भिउडिभयंकर।
 वइरिखयंकर, णियवइसंकर।
 झसमुगगरकर, धाइय णरवर।
 परजयसिरिहर, मयणह किंकर।....
 जायउ भंडणु, करसिरखंडणु।
 डयरवियारणु, पहरणवारणु।
 असि खणखणर व, हणरवरउरव।
 मयगलपेल्लणु, लोहियरेल्लणु।
 रहवरखंचणु, केसालुंचणु।
 पाडियधयवडु, सूडियहयथडु।
 छुरियायडुणु, मच्छरघणघणु।
 णिरु णिब्भिच्चिहिं, जुज्झविभिच्चिहिं। (5.4)

अर्थात्, नागकुमार के कहने पर उसके निष्ठुर करोंवाले और भृकुटी से भयंकर दिखाई पड़नेवाले किंकर वैरियों का क्षय करने, स्वामी का हित साधने तथा शत्रुओं की जयश्री का अपहरण करने के लिए भाले और मुद्गर लेकर दौड़ पड़े।... दोनों पक्षों के सैनिक एक दूसरे का पेट चीरने और प्रहारों को रोकने लगे। तलवारों की खन-खन ध्वनि के साथ 'मारो-मारो' का भयानक कोलाहल होने लगा। हाथी रौंदे जाने लगे। लोहू का रेला बहने लगा। बड़े-बड़े रथ खिंचने लगे और केश नोचे जाने लगे। ध्वजा और पताकाएँ धराशायी होने लगीं। घोड़े भागने लगे। छुरियाँ चलने लगीं। क्रोध की आवाज घनघनाने लगी। इस प्रकार नागकुमार के भृत्य जूझने लगे।

इस प्रकार के काव्यांशों के उदाहरणों में काव्यकार पुष्पदन्त की रीति-रमणीय रचना-प्रतिभा की प्रौढ़ता का पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है। बिम्बविधान के सन्दर्भ में महाकवि पुष्पदन्त की भाषा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। काव्यकार की काव्य-साधना मूलतः भाषा की साधना का ही उदात्त रूप है। कोई भी कृति अपनी भाषिक सबलता के कारण ही चिरायुषी होती है। 'णायकुमारचरित' भी अपनी भाषिक प्रौढ़ता के साथ ही काव्यशास्त्रोपयोगी साहित्यिक तत्त्वों के सुचारु और सम्यक् विनियोजन के कारण ही कालजयी काव्य के रूप में चिरप्रतिष्ठ बना हुआ है।

पी.एन. सिन्हा कॉलोनी,
भिखना पहाड़ी
पटना - 800006

रयणायरु णावइ सायरु ताह चम्पापुरु छज्जइ

तहिँ मणोज्जु रिद्धीएँ समिद्धउ
निविडण्णोण्णु भिडिय गुरुअज्जुण
सरहभीसवाणवल्लिछाइय
सुविसालाइँ सिसिरसाहालइँ
तरुणिकायलगिरपोमरयइँ
खत्तसारपरिसाहिय खेत्तइँ
णियवइरक्खियाइँ दिढकच्छइँ
सुरयणपरियंचियकल्लाणइँ

अत्थि देसु अंगउ सुपसिद्धउ ।
दुज्जोहणसुभीमगयकयरण ।
भारहसरिस जेत्यु वणाराइय ।
अविरलसुरहिपसवसोहालइँ ।
जहिँ उववणइँ व गोउलणियरइँ ।
बहु करिसणइँ ललियकरजुत्तइँ ।
जहिँ गामइँ सामंतसरिच्छइँ ।
जहिँ जिणवरसरिसइँ पुरठाणइँ ।

घत्ता - रयणायरु णावइ सायरु तहिँ चंपापुरु छज्जइ ।

बहुसुरहरु विबुह - मणोहरु अह सुरवइपुरु णज्जइ ॥ 2 ॥

सुदंसणचरिउ 2.2

ऐसे उस भरतक्षेत्र में मनोज्ञ, ऋद्धि से समृद्ध व सुप्रसिद्ध अंगदेश है। वहाँ के वनों में बड़े-बड़े विशाल अर्जुन वृक्ष परस्पर ऐसी सघनता से भिड़े हुए हैं जैसे मानो गुरु द्रोणाचार्य और अर्जुन परस्पर युद्ध में भिड़े हों। दुर्योधन और बड़े भीमकाय गज रण में ऐसे गुथे हुए दिखाई देते हैं जैसे दुर्योधन और भीम गदायुद्ध कर रहे हों। शरभ और भीषण वाणों के झुण्ड ऐसे छाये हुए हैं जैसे रथों पर चढ़े हुए योद्धाओं की भीषण वाणावलि से आच्छादित हो। इस प्रकार अंगदेश की वनराजि महाभारत सदृश दिखाई देती थी। वहाँ गोकुलों के समूह सुविशाल और शीतल दधिशालाओं से युक्त, निरन्तर गडओं द्वारा प्रसूत बच्छड़ों की शोभा सहित तथा तरुणी गोपिकाओं का आलिंगन करते हुए ग्राम युवकों सहित वहाँ के उपवनों के सदृश ही दिखाई देते थे, जहाँ सुविशाल, शीतल शाखालय थे, निरन्तर सुगन्धी पुष्पों की शोभा थी, तथा वृक्षों के समूहों पर पुष्पों की रज लगी हुई थी। वहाँ गाँवों के खेत उत्तम खाद से खूब उर्वर बनाए गए थे। बहुत से कृषकों से बसे हुए थे, उनपर कर भी स्वल्प लगाया जाता था। अपने-अपने भूमिपति द्वारा रक्षित सुदृढ़ कछारों सहित थे। अतएव वे ग्राम उन सामन्तों के समान थे जिन्होंने श्रेष्ठ क्षत्रियत्व द्वारा अपने क्षेत्र को वशीभूत कर लिया था, जो खूब खींचकर बाण चलाते थे, जो ललित करों से युक्त थे, अपने-अपने भूपतियों द्वारा सुरक्षित थे और दृढ़ता से बद्ध-कक्ष रहते थे। वहाँ के नगरस्थान खूब रत्नों से युक्त एवं सब प्रकार कल्याणपूर्ण थे। अतएव वे उन जिनवरों के समान थे जिनके गर्भादि कल्याणक देवों द्वारा किये गये थे। ऐसे उस अंगदेश में चम्पापुर नाम का नगर रत्नों का निधान होने से रत्नाकर (सागर) के समान शोभायमान था। वहाँ अनेक देवालय थे और वह पण्डितों से मनोहर होता हुआ ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह बहुत से विमानों से युक्त तथा देवों से मनोहर देवेन्द्रपुरी ही हो।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

योगसार का सार : योगों से निवृत्ति

— डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'



संसार का प्रत्येक प्राणी सुखाकांक्षी है। वह इच्छाओं की पूर्ति में ही सुख मानता है और उसी के लिए निरन्तर प्रत्यनशील रहता है। वह भोगोपभोग की सामग्रियों को जुटाता है, उनका उपयोग/उपभोग करता है पर क्षणिक तृप्ति के बाद उसकी व्यग्रता, आकुलता पुनः बढ़ जाती है, उसे पूर्णतः शाश्वत शान्ति - सन्तुष्टि नहीं मिल पाती। इससे यह तो निश्चित है कि सुख-प्राप्ति के मूल कारण को नहीं जाना। बिना कारण के कार्य की सिद्धि असंभव है और इसीलिए किया गया प्रयास निरर्थक चला जाता है।

दुःख और उसके कारण तथा उससे निवृत्ति के उपाय/सुख की उपलब्धि के साधन हमारे देश के दार्शनिक आध्यात्मिक चिन्तक/विचारकों ने प्रतिपादित किये हैं। जैन दर्शन में चौबीस तीर्थंकरों, उनके गणधरों, कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी समन्तभद्राचार्य, उमास्वामी आदि अनेक आचार्यों ने अपने उपदेश द्वारा तथा ग्रन्थ-रचना द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। इन आचार्यों के ग्रन्थ प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में हैं। कविवर जोइन्दु ने अपभ्रंश भाषा में परमात्मप्रकाश और योगसार ग्रन्थ की रचनाकर रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों के विरुद्ध जन-सामान्य के लिए सहज-सरलरूप से जीवन-मुक्ति का संदेश दिया और आध्यात्मिक गंगा को प्रवाहित किया है। यहाँ योगसार की अयोग-साधना पर विचार किया जा रहा है।

योगसार 108 पद्यों का मुक्तक काव्य ग्रन्थ है। इसमें परमात्मप्रकाश के ही विषय का पुनरावर्तन है। विषय-विवेचना में क्रमबद्धता का अभाव है। कवि ने आत्मा की तीन अवस्थाएँ, उनके स्वरूप, भवभ्रमण के कारणों तथा उनसे निवृत्ति के उपायों का निदर्शन किया है। आडम्बर-परक बाह्याचार का खण्डन कर आत्मशुद्धि का प्रतिपादन किया है। इसमें उन्होंने धर्म-साधना के साथ रहस्यवादी प्रवृत्तियों को भी बतलाया है। सामरस्य भाव इनकी महत्त्वपूर्ण साधना है। इसी साधना द्वारा आत्मा परमात्मपद को प्राप्त करता है। आत्मा से परमात्मा बनने की साधना ही यथार्थ में योगी/मुनि बनकर योगों से परे होने की साधना है। यही अयोग साधना है। इसे जानने के पूर्व योग के विषय में जानना आवश्यक है।

योग शब्द की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से मानी गई है। इसके अनेक अर्थ हैं, उनमें 'जोड़ना' और 'समाधि' प्रमुख हैं। बौद्ध परम्परा में 'युज्' का प्रयोग 'समाधि' अर्थ में हुआ है। वैदिक परम्परा में महर्षि पातञ्जलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है।¹ अथवा समत्व और उदासीन भाव से कर्म करने की कुशलता को योग कहा है।² जैन दर्शन में योग का अर्थ इनसे भिन्न है। काय, वचन और मन की प्रवृत्ति से आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन/परिस्पन्दन होना योग है - कायवाङ्मनः कर्मयोगः।³ योग कर्मों के आने का कारण है, इसे जैनागम में आस्रव कहा है - स आस्रवः।⁴

हलन-चलन आदि क्रियाओं और इन्द्रिय-विषयों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति में काया की चंचलता दिखाई देती है। अन्तर्वाक् और बहिर्वाक् द्वारा वाणी का चान्चल्य प्रकट होता है। स्मरण, विचार, कल्पनाएँ मन को अस्थिर कर देती हैं। काया की प्रवृत्तियाँ अत्यन्त स्थूल, वचन की उससे सूक्ष्म और मन की प्रवृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इन प्रवृत्तियों की सूक्ष्मता में क्रमशः वृद्धि होने पर भी इनकी चंचलता अनन्त गुनी बढ़ती जाती है। इसी कारण काया की अपेक्षा वचन तथा वचन की अपेक्षा मन के चाञ्चल्य से होनेवाले कर्म-बन्ध में अनन्तगुनी तीव्रता होती है।

हरिभद्रसूरि ने मोक्ष से जोड़नेवाले समस्त विशुद्ध व्यापार को योग कहा है। 'आत्म-साक्षात्कार का पथ' कृति में तीन विषय के साथ जोड़ने को योग कहा है -

(1) रागादि के परिहार में आत्मा को लगाना अर्थात् राग-द्वेष भाव छोड़कर आत्मा को आत्मा से जोड़ना।

(2) सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों के अभाव में आत्मा को जोड़ना।

(3) विपरीताभिनवेश का त्यागकर सत्-चित्-आनन्द तत्त्व में आत्मा को जोड़ना।⁵

उपाध्याय यशोविजयजी ने समस्त व्यापार धर्म से पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचन माता की प्रवृत्ति को योग कहा है।⁶

जैन दर्शन में योग आस्रव तथा कर्मबन्ध का कारण है। जहाँ कर्मबन्ध है वहाँ विकृति है, विभाव है, चंचलता है, अनित्यता है, अस्थिरता है, भव-भ्रमण है। इनको दूर करने के लिए

साधना की जाती है। विकृति से प्रकृति की ओर, विभाव से स्वभाव की ओर, अनित्यता से नित्यता की ओर, अस्थिरता से स्थिरता की ओर, प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर, भव-भ्रमण से मुक्त होने के लिए मोक्ष की ओर, योग से अयोग की ओर आने के लिए जो प्रयास किया जाता है वह साधना है। जहाँ यह साधना परिपूर्ण होती है वहीं साध्य की उपलब्धि होती है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति एवं आनन्दमय होते हुए भी कर्मावरण के कारण स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाता। वह स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा कर्मावरण को हटाकर/क्षयकर निजरूप को पा सकता है। सर्वप्रथम आत्मा और शरीरादि पर-पदार्थों की भिन्नता/स्व-पर-भेदविज्ञान से सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय द्वारा मन-वचन-काय को अशुभ प्रवृत्ति से हटाना और इनकी शुभ में प्रवृत्ति करना, 'णो हरिसे णी कुज्जे' अर्थात् न हर्षित होना और न कुपित होना की साधना द्वारा मन और पंचेन्द्रिय को नियन्त्रित करना। इनके विषयों को अनासक्त भाव से भोगना, देशविरति और सर्वविरति रूप-साधना द्वारा गुणस्थानों का आरोहण करते हुए वीतराग दशा अयोग-केवली-गुणस्थान तक को प्राप्त करना ही अयोग साधना है। यही योगों से निवृत्ति का उपाय है।

योगसार में कविवर जोइन्दु ने सरल बोधगम्य भाषा में आत्मसाधना द्वारा प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर गमन का उपाय बतलाया है जो योगदशा से अयोगी बनने का ही पथ है। उनके अनुसार इस दशा की प्राप्ति हेतु प्रथम आवश्यकता है - स्व-पर-भेदविज्ञान। यह तभी संभव है जब निज-स्वरूप का ज्ञान हो साथ ही अपने से भिन्न पर के स्वरूप/स्वभाव को भी जाने जिससे दोनों की पृथकता का यथार्थ बोध हो। कविवर जोइन्दु ने आत्मा तथा उससे भिन्न देहादि पर-पदार्थों के स्वरूप से अवगत कराया है जो इस प्रकार है -

आत्मा शुद्ध, सचेतन, बुद्ध, केवलज्ञान स्वभावमय है।⁷ यह एकाकी इन्द्रियादि से रहित है।⁸ यह निश्चयनय से लोकप्रमाण तथा व्यवहारनय से शरीरप्रमाण है।⁹ शरीर और उससे सम्बन्धित सभी पदार्थ पर/अन्य हैं। वे आत्मा नहीं होते, आत्मा से भिन्न हैं ऐसा समझकर आत्मा को आत्मा पहचान। इस स्व-पर भेदविज्ञान का प्रयोजन पर-भावों को अपने से भिन्न जानना, मानना और उन्हें छोड़ना तथा आत्मा को आत्मा के द्वारा जानना।¹⁰ ऐसा करने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। वही आत्मज्ञाता होता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि साधक/मानव जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - इन सात तत्त्वों तथा नौ पदार्थों का ज्ञान करे, आत्मस्वरूप को समझे।¹¹ यही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति/स्व-पर भेदविज्ञान में कारण है।

स्व-पर भेदविज्ञान जहाँ निज आत्मस्वरूप का बोधक है वहीं चित्तशुद्धि का भी कारण है। परम शुद्ध पवित्र भाव के ज्ञान के बिना, चित्तशुद्धि के अभाव में मूढ़ लोगों के व्रत, संयम, तप और मूलगुणों को मोक्ष (का कारण) नहीं कहा जा सकता -

**वय-तव-संजम-मूलगुण मूढहँ मोक्ख ण वुत्तु ।
जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ 29 ॥**

जब तक जीव अपने स्वरूप को नहीं समझता तब तक वह कुतीर्थों में भ्रमण करता है।¹² वह देहरूपी देवालय में विराजमान जिनदेव के दर्शन न कर ईट-पत्थरों के देवालय में उनके दर्शन करता है।¹³ पर यह नहीं जानता कि देव किसी देवालय, किसी पत्थर, लेप या चित्र में विराजमान नहीं हैं।¹⁴ वे तो मेरे देह-देवालय में ही हैं।¹⁵ इसी तरह (मंत्रादि) पढ़ लेने से धर्म नहीं होता। पुस्तक और पिच्छी से भी धर्म नहीं होता। किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता और न केशलुंचन करने से धर्म होता है -

**धम्म ण पढियइँ होइ धम्म ण पोत्था पिच्छियइँ ।
धम्म ण मढिय पसि धम्म ण मत्था लुंचियइँ ॥ 47 ॥**

स्व-पर भेदविज्ञान इस प्रकार की भ्रान्ति-निवारण का सशक्त साधन है और धर्म के स्वरूप से अवगत कराता है। भ्रान्ति-निवारण से चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि और शाश्वत सुखोपलब्धि में सद्गुरु का उपदेश, सत्संगति, नरभव की दुर्लभता आदि का चिन्तन, स्व का आत्म-सम्बोधन सहायक है। यह असद् वृत्तियों को मन्द करता है। इससे साधक की साध्य की ओर एकाग्रता बढ़ती है। एकाग्रता बढ़ाने/निजस्वरूप में स्थिरता तथा वैराग्य की वृद्धि हेतु संसार शरीर और भोगों की क्षणभंगुरता, बारह भावनाओं का चिन्तन सशक्त उपाय है। बारह भावनाओं को तो वैराग्य-उत्पादक माता कहा गया है।¹⁶ इन भावनाओं में कुटुम्ब-परिवार आदि पर-पदार्थों की अनित्यता, अशरणता आदि का चिन्तन किया जाता है।

कविवर जोइन्दु ने कुटुम्ब आदि की स्व से भिन्नता का बोध निम्न शब्दों में कराया है -

**इहु परियण ण हु महुतणउ इहु सुहु दुक्खहँ हेउ ।
इय चिंततहँ किं करइ लहु संसारहँ छेउ ॥ 67 ॥**

- यह कुटुम्ब-परिवार निश्चय से मेरा नहीं है। यह मात्र सुख-दुःख का हेतु है। इस प्रकार विचार करने से शीघ्र ही संसार का नाश किया जा सकता है।

इसी प्रकार कवि ने जीव को पर-पदार्थों की अशरणता से अवगत कराया है -

**इंद फणिंद-णरिंदय वि जीवहँ सरणु ण होति ।
असरणु जाणिवि मुणि धवला अप्पा अप्प मुणंति ॥ 68 ॥**

- इन्द्र फणीन्द्र, नरेन्द्र भी जीवों की शरणभूत नहीं हो सकते। इस तरह अपने को शरण-रहित जानकर उत्तम मुनि अपने आत्मा से निज आत्मा को जानते हैं।

'जीव को इन्द्र आदि कोई शरण नहीं है' इस कथन द्वारा कवि ने वस्तु के अशरण स्वभाव का बोध कराया है। अशरण स्वभाव के कारण किसी वस्तु को अपने परिणमन के लिए पर में

जाने की आवश्यकता नहीं है। पर की शरण की आवश्यकता परतन्त्रता की सूचक है जब कि प्रत्येक वस्तु पूर्णतः स्वतन्त्र है, उसे अन्य/पर की सहायता की आवश्यकता नहीं है। अशरण अहस्तक्षेप का सूचक है। कोई भी व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो वह अन्य द्रव्य के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसका प्रयोजन संयोगों और पर्यायों से दृष्टि हटाकर स्वभाव-सन्मुख करना है।

एकत्व भावना द्वारा जीव के एक अकेले होने के भाव को योगसारकार ने इस प्रकार हृदयंगम कराया है -

इक्क उप्पज्जइं मरइ कु वि दुहु सुहु भुंजइ इक्कु ।

णरयहँ जाइ वि इक्क जिउ तहुँ णिब्बाणहँ इक्कु ॥ 69 ॥

- जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और वह अकेला ही सुख-दुःख का उपभोग करता है। वह नरक में भी अकेला ही जाता है और निर्वाण को भी अकेला ही प्राप्त करता है।

जन्म-मरण, सुख-दुःखादि प्रत्येक स्थिति को जीव अकेला ही भोगता है और प्रत्येक परिस्थिति में वह अकेला ही है। ऐसी एकल भावना के द्वारा जीव को अकेलेपन की अनुभूति करायी है। यह अकेलापन उसका स्वभाव है। इस एकत्व स्वभाव को स्वीकार करना ही इसका प्रयोजन है। एकत्व स्वभावी आत्मा का कुटुम्ब, परिवार, शरीरादि में पृथक्ता का ज्ञान करना और इन्हें मात्र संयोग मानना तथा पर से भिन्न निज-स्वरूप में स्थिर होना ही इसके चिन्तन का लक्ष्य है।

योगसार में आत्मा के एकत्व स्वभाव के साथ शरीर की अशुचिता को भी बतलाया गया है -

जेहउ जज्जरु णरय घरु तेहउ बुज्झि सरीरु ।

अप्पा भावहि णिम्मलउ लहु पावहि भवतीरु ॥ 51 ॥

हे जीव ! जैसे नरकवास सैकड़ों छिद्रों से जर्जरित है उसी तरह शरीर को भी (मल-मूत्र आदि से) जर्जरित समझ। निर्मल आत्मा की भावना कर (जिससे) शीघ्र ही संसार से पार होगा।

यहाँ पर शरीर की अपवित्रता का बोध कराया गया है। शरीर की यथार्थ स्थिति को समझकर उससे आसक्ति हटाना, शरीर के परिणमन में सुखी-दुःखी न होना और आत्म-स्वरूप में स्थिर होना ही इस अशुचि भावना का लक्ष्य है।

संसार-शरीर और भोगों की क्षणभंगुरता एवं अशरणता का बोध स्वयं के एकत्व तथा पर-पदार्थों से भिन्नत्व का ज्ञान, शरीर की अशुचितापरक जानकारी एवं अनुभूति निज से भिन्न सभी पर-पदार्थों से एकत्व व ममत्व को तोड़ने के सफल उपाय हैं। ये अनुकूलता/प्रतिकूलता में अन्य पर आरोप-वृत्ति का/कर्तृत्व बुद्धि का नाशक है। ये समता भाव की जनक हैं। रागादि विकारी भावों की निवृत्ति का कारगर उपाय है। रागादि भावों के पूर्ण क्षय होने पर अयोगी दशा की प्राप्ति होती है। इसके लिए जोइन्दुदेव ने संदेश दिया है वह इस प्रकार है -

जह लोहम्मिय णियउ बुह तह सुण्णम्मिय जाणि ।

जे सुहु असुह परिच्चयहि ते वि हवन्ति हु णाणि ॥ 72 ॥

- हे पण्डित ! जैसे लोहे की साँकल को तू साँकल समझता है । उसी तरह तू सोने की साँकल को भी साँकल समझ । जो शुभ-अशुभ दोनों भावों का परित्याग कर देते हैं वे निश्चय से ज्ञानी होते हैं ।

शुभाशुभ दोनों ही भावों का परित्याग शाश्वत सुखोपलब्धि का कारण है । इसी भाव की अन्य गाथाएँ भी मिलती हैं । जैसे - जो राग-द्वेष-मोह से रहित होकर सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र-युक्त होता हुआ निज आत्मा में निवास करता है वह शाश्वत सुख का पात्र होता है ।¹⁷ परभाव के त्याग की प्रेरणा भी कवि ने दी है -

तू पर का भाव त्यागकर और आत्मा का ध्यानकर जिससे तू शीघ्र ही ज्ञानमय मोक्ष-सुख को प्राप्त कर सके ।¹⁸ आत्मध्यान समभाव होने पर ही होता है । राग-द्वेष दोनों से परे होने पर ही समभाव/समता आती है । इसे ही सामायिक कहते हैं ।¹⁹ सामायिक में स्थिरता पंचविध चारित्र-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म और यथाख्यात चारित्र से ही कर्मक्षय, विकल्पातीत शाश्वत सुख/मोक्ष सुख की उपलब्धि होती है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जोइन्दुदेव आध्यात्मिक गंगा प्रवाहित करनेवाले आचार्यों की परम्परा के एक आचार्य हैं जिन्होंने अपभ्रंश भाषा में परमात्मप्रकाश और योगसार आदि ग्रन्थों का सृजन किया । इसमें प्राणी के भव-भ्रमण के कारण - कर्मास्त्रव और योग का निरूपण कर उससे निवृत्ति के उपायों का निदर्शन किया है । कविवर जोइन्दु ने बाह्याडम्बरों को महत्त्व न देकर जीव की भाव-शुद्धि पर जोर दिया है । स्व और पर के स्वरूप को पहचानकर राग-द्वेष से परे निज स्वरूप में/सामायिक में स्थिर होना कर्मयोग से परे होना है । यही योगों से निवृत्ति अयोग/सिद्धावस्था की प्राप्ति का मार्ग है और यही योगसार का सार है ।

1. आत्मसाक्षात्कार का पथ : जैन अयोग साधना, बी. रमेश जैन, मारुथी सेवा नगर, बंगलौर, पृष्ठ 6 ।
2. वही, पृष्ठ 6 ।
3. तत्वार्थ सूत्र, उमास्वामी, 6.1 ।
4. वही, 6.2 ।
5. आत्मसाक्षात्कार का पथ : जैन अयोग साधना, पृष्ठ 6 ।
6. वही, पृष्ठ 7 ।
7. योगसार, जोइन्दु, 26 ।

8. वही, 86।
9. वही, 24।
10. वही, 34।
11. वही, 35।
12. वही, 41।
13. वही, 43।
14. वही, 44।
15. वही, 42, 45।
16. छहढाला, पं. दौलतरामजी, 5.1।
17. योगसार, 78।
18. वही, 70।
19. वही, 100।

मील रोड
गंजबासौदा (विदिशा) म.प्र.

मणिरयणाइयहुँ ण संख जेत्थु

जलपरिहसालगोउरमहल्लु	णं समवसरणु धयसंकडिल्लु।
रामायणु व्व कइयणपगामु	लक्खणसमेय रामाहिरामु।
अह भारहु व्व गुरुकण्णमाणु	वावरियपत्थु कणभरियदोणु।
अह सहइ जाइवित्तेहिँ रुंदु	जइगणहिँ अलंकिउ णाई छंदु।
महणत्थिय मंदरतुल्लसोहु	चउदिसु अणंतपयजणियखोहु।
अहवा गयणयलु व भमियमित्तु	तमहरमंगल बुहुगुरुपवित्तु।
अहवा पायालु व णायवंतु	मणहर पोमावइसोह दिंतु।
अहवा वण्णिणज्जइ काई तेत्थु	मणिरयणाइयहुँ ण संख जेत्थु।

घत्ता - तहिँ राणउ अत्थि सयाणउ धाईवाहणु णामें।

मणहरणउ जणवसियरणउ णं सरु सज्जिउ कामें ॥ 3 ॥

सुदंसणचरिउ 2.3

वह चम्पापुर जल से भरी हुई परिखा, कोट तथा गोपुरों से ऐसा महान् एवं ध्वजाओं से ऐसा संकीर्ण था जैसे मानो भगवान् का समोसरण ही हो। वह कविजनों से पूर्ण एवं लक्षणों से युक्त रमणियों से ऐसा रमणीक था जैसे कि रामायण कवियों से युक्त एवं लक्ष्मण सहित राम के चरित्र से रमणीक है। वहाँ के निवासी गुरुजनों की कान (विनय) मानते थे; वहाँ के पथ लोगों के गमनागमन से व्याप्त थे; और वहाँ अन्न से भरे द्रोण दिखाई देते थे; इस प्रकार वह महाभारत के समान था, जिसमें गुरु (भीष्म पितामह) और कर्ण का सम्मान, पार्थ का व्यापार एवं कणभरिय (?) द्रोणाचार्य पाये जाते हैं। वह जातियों और उनकी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में ऐसा विशाल तथा साधुजनों से ऐसा शोभायमान था जैसे जाति वृत्त द्वारा विस्तृत रचना, एवं यति और गणों से अलंकृत छन्द हो। वह अर्थात् ब्राह्मणों के द्वारा एवं चारों दिशाओं में अनन्त प्रजा द्वारा उत्पन्न कोलाहल से उस मन्दर पर्वत के समान शोभा को धारण करता था, जो समुद्र-मंथन के लिए स्थापित किया गया था, और जिसके द्वारा चारों दिशाओं में अनन्त जलराशि में क्षोभ उत्पन्न हुआ था। वहाँ मित्रजन भ्रमण करते थे; और वह अज्ञान को दूर करनेवाले कल्याणकारी विद्वान् गुरुजनों से पवित्र था; जिससे वह उस गगनतल के समान था जहाँ सूर्य का परिभ्रमण होता है, एवं जहाँ अन्धकार का अपहरण करनेवाले मंगल, बुध व गुरु नामक ग्रहों का संचार होता है। अथवा उस नगरी में न्याय वर्ता जाता था, और मनोहर लक्ष्मी की शोभा दिखाई देती थी; अतएव वह उस पाताल के समान था, जहाँ नागों का निवास है, और जहाँ मनोहर पद्मावती की शोभा पाई जाती है। अथवा उस नगरी का क्या वर्णन किया जाए, जहाँ मणियों और रत्नों आदि की संख्या ही नहीं थी। उस पुरी में धाईवाहन नाम का ज्ञानी राजा था जो ऐसा मनोहर और लोगों को वश में करनेवाला था जैसे मानों कामदेव ने उसे अपना बाणरूप ही सजाया हो।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

अपभ्रंश के करकण्डचरिउ में अभिव्यक्त धार्मिक अभिव्यञ्जना

— डॉ. राजीव प्रचण्डिया

‘चरितकाव्य’ साहित्य की एक सशक्त विधा है। जैन चरितकाव्यों में मुनि कनकामर द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित ‘करकण्डचरिउ’ एक उत्कृष्ट कोटि का काव्य है जो सांसारिक दुःखों में उलझे हुए पतित जीवन को आध्यात्मिक उन्नति/आत्मोत्थान की ओर ले जाने में प्रेरणास्रोत रहा है। यह ‘चरिउकाव्य’ व्यक्ति को उसके द्वारा किए गए शुभ-अशुभ कर्मों के लेखे-जोखे का अहसास दिलाता है ताकि भौतिक-अभौतिक संघर्षों-विवादों से ऊपर उठकर मनुष्य समदर्शी-समभावी हो सके अर्थात् सुख-दुःख से उसे सदा-सदा के लिए छुटकारा मिल सके। वह शाश्वत आनन्द-तृप्ति की परिधि को स्पर्श कर सके। निश्चय ही दस परिच्छेदों/संधियों में रचा, छोटी-बड़ी नौ अवान्तर-कथाओं से सुसज्जित यह चरिउ आत्मकल्याण तथा लोक-कल्याण का सुन्दर समन्वय है। यह भटके हुए प्राणी को सही दिशा दर्शाता है। इसमें नायक करकण्ड राजकीय परम्परा से सम्बन्धित है। उसमें असाधारण मानवीय गुणों का सामञ्जस्य है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त उसने एक आदर्श जीवन का उदाहरण प्रस्तुत किया है। अपने प्रारम्भिक जीवन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक नाना प्रकार के संकट, अन्तराय और व्यवधानों से जूझता हुआ तथा सभी प्रकार की परिस्थितियों का सामना करते हुए कवि मुनि कनकामर ने उसे अभूतपूर्व

सफलता प्राप्त करायी है। अन्त में उसे अपने राज्य वैभव के भोग भोगते यथार्थ भव-भ्रमण का अभिज्ञान हो जाता है। उसके इस अभिज्ञान में कवि ने धार्मिक अभिव्यञ्जना की मूलभूत भूमिका को आधार बनाया है। इस हेतु इस काव्य में स्थान-स्थान पर धार्मिक तत्त्वों से उद्बोधन दिया गया है। यहाँ विवेच्य काव्य में अभिव्यक्त धार्मिक अभिव्यञ्जना को संक्षिप्त करना हमें अभीष्ट है।

प्रत्येक रचना के प्रारम्भ में कवि/लेखक अपने आराध्यदेव की वंदना करता है ताकि उसके समस्त कार्य निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न हो सकें। मुनिजी ने भी इस परम्परा को ध्यान में रखकर अपने इस काव्य का सृजन करते समय जिनेन्द्रदेव की वन्दना की है। वंदना में वे कहते हैं कि मैं उन श्री जिनेन्द्रदेव के चरणों का स्मरण करता हूँ जिन्होंने अपने समस्त राग मिटा दिए हैं, जो परमात्मपद में लीन हैं और जन्म-मृत्यु से रहित हैं। ऐसे वीतरागी देव के स्मरण मात्र से मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। यथा -

**मणमारविणासहो सिवपुरिवासहो पावतिमिरहरदिणयरहो।
परमप्पयलीणहो विलयविहीणहो सरमि चरणुसिरि जिणवरहो ॥ (1.1)**

रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध चैतन्य गुणों के धारक और समस्त कर्मजनित उपाधियों से रहित आत्मा अर्थात् जिनेन्द्रदेव की स्तुति का विधान जैनागम में स्पष्टतः परिलक्षित है।

विवेच्य काव्य में जिनेन्द्र की स्तुति मात्र दो स्थलों पर की गई है। एक स्थल पर जब मूलनायक राजा करकण्ड द्रविणदेश को जीतने के लिए सेनासहित प्रयाण करते हैं तो मार्ग में पड़नेवाले सरोवर में जिनेन्द्र-बिम्ब के अभिदर्शन कर उत्तम भक्ति से उनके गुणों का चिंतन करते हुए स्तुति करते हैं, यथा -

**जय जय देव जिणिंद पहु पड़ं झायइँ अणुदिणु णियमणिण।
तव दंसणे णयणइँ अज्जु पुणु संजायइँ णिद्धइँ महो खणिण ॥ (4.10)**

दूसरी बार लयण/गुफा में प्रतिष्ठित जिनबिम्ब के सिंहासन पर विद्यमान गाँठ के रहस्य के बारे में जब नृपति देव से पूछता है तो देव उस लयण की कथा को विस्तार से बताते हुए कहता है कि अमितवेग और सुवेग नामक विद्याधरों ने जैनधर्म ग्रहणकर, सिरपूछी पर्वत पर चतुर्विंशति जिनालय के दर्शनकर जिनेन्द्र की स्तुति भक्तिपूर्वक तीनों गुप्तियों - मनसा-वाचा-कर्मणा से की थी। यथा -

**जय जिण केवलणाणरविमिच्छत्ततिमिरिणणासयर।
ते वंदिवि पूजिवि संथुणिवि एक्केक्क णिहालहिं पुणु खयर ॥ (5.6)**

सांसारिक विषयों से विरक्ति वस्तुतः विराग कहलाती है। जैनधर्म में अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ तथा धर्मभावना नामक बारह भावनाओं को अनुप्रेक्षाओं के रूप में जाना जाता है जिनके बार-बार चिंतन से कषाय-कलापों में लीन चित्तवृत्तियाँ वीतराग की ओर प्रेरित होती हैं। वास्तव में इन भावनाओं

के भाने से व्यक्ति शरीर व भोगों से निर्विण्ण होकर साम्यभाव में स्थिति पा सकता है। अनित्य भावना में संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, ऐसा विचार, अशरण भावना में कष्ट-मरण में तथा आपत्ति-विपत्तियों में अपनी आत्मा के अतिरिक्त कोई भी रक्षा नहीं करता, ऐसा विचार; संसार भावना में यह संसार महादुःखों का भण्डार है, ऐसा चिंतवन; एकत्व भावना में जीव संसार में अकेला आया ऐसा है श्रद्धान; अन्यत्व भावना में चेतन-अचेतन समस्त पदार्थ अपने से अलग हैं, ऐसा भाव; अशुचिभावना में यह शरीर मल-मूत्र से वेष्टित है, उसमें मोह करना निस्सार है, ऐसा भाव; आस्रवभावना में कर्मों का आत्मप्रदेश से किस प्रकार से बँधना होता है, ऐसा चिन्तवन; संवर भावना में कर्म और उसकी बंध-प्रक्रिया को कैसे रोका जाए, ऐसा भाव; निर्जराभावना में बँधे हुए कर्मों की निर्जरा/छुटकारा कैसे हो? ऐसा विचार; लोक भावना में यह लोक, आकाश में किस प्रकार से ठहरा है? स्वर्ग, मध्यलोक कहाँ पर अवस्थित है? ऐसा विचार; बोधिदुर्लभ भावना में सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय की उपलब्धि कितनी कठिन है, उसे कैसे प्राप्त किया जाए, ऐसा भाव; तथा धर्मभावना में धर्म क्या है ऐसा चिन्तवन धार्मिक प्राणियों द्वारा बार-बार किया जाता है।

प्रस्तुत काव्य में कविवर ने इस चरितकाव्य के माध्यम से मूलनायक राजा करकंड को द्वादश अनुप्रेक्षाओं के स्वरूप और उसके महत्त्व को विस्तार से समझाया है जिससे प्रभावित होकर नृपवर की छिपी हुई वैराग्य भावना बलवती होती है और अन्ततोगत्वा वे समस्त वैभव त्यागकर जिनेन्द्रमार्ग का अनुसरण कर अपने जीवन को सफल बनाते हैं। यथा -

हा माणउ दुक्खइँ दडढतणु विरसु रसंतउ जहिं मरइ।
भणु णिगिघणु विसयासत्तमणु सो छंडिवि को तहिं रइ करइ ॥ (9.4)

- हाय, जहाँ मानव दुःख से दग्ध-शरीर होकर बुरी तरह कराहता हुआ मरता है, ऐसे संसार में निर्लज्ज व विषयासक्त मनुष्य को छोड़, कहो और कौन प्रीति कर सकता है?

अनित्य भावना

णिज्झायइ जो अणुवेक्ख चल वइरायभावसंपत्तउ।
सो सुरहरमंडणु होइ णरु सुललियमणहरगत्तउ ॥ (9.6)

- जो वैराग्यभाव को प्राप्त होकर इस अनित्य अनुप्रेक्षा का ध्यान करता है वह नर सुललित और मनोहर गात्र होकर देवों के विमान का आभूषण बनता है।

अशरण भावना

असरणअणुवेक्खउ जो वि पुणु अणुदिणु भावइ णिययमणे (9.7)

- जो कोई उस अशरण अनुप्रेक्षा की प्रतिदिन अपने मन में भावना करता है (वह स्वर्ग-सुखों को पाता है)।

संसार भावना

संसारहँ उवरि णिहालगणउ किउ जेण णरेण कयायरेण।

भणु काइँ ण लद्धउ तेण जइ पवररयणरयणायरेण॥ (9.8)

- जिस मनुष्य ने भले प्रकार संसार के ऊपर अवलोकन किया और महान रत्नत्रयरूपी रत्न प्राप्त कर लिये उसे कहो, इस जग में क्या नहीं मिला?

एकत्व भावना

इह अणुवेक्खा जो अणुसरइ सीलँ मंडिवि णिययतणु।

सासयपए सो सुहणिलए एक्कल्लउ सोहइ मुक्कतणु॥ (9.9)

- जो कोई अपने शरीर को शील से मण्डित कर इस एकत्व अनुप्रेक्षा का अनुसरण करता है वह शरीर से मुक्त होकर सुख के निलय शाश्वत पद में अद्वितीय रूप से शोभायमान होता है।

अन्यत्व भावना

एह अणुवेक्खा थिर करिवि णियमणि झायइ जो जि णेरु।

सो परमप्यउ णिम्मलउ देह विवज्जिउ होइ वरु॥ (9.10)

- जो मनुष्य इस अनुप्रेक्षा को स्थिर करके अपने मन में ध्याता है वह देह से विवर्जित, निर्मल और उत्तम परमात्मा हो जाता है।

अशुचि भावना

उप्पणणउ सुक्कइँ सोणियइँ असुइसहावउ जो जणु झायइ।

एह अणुवेक्खा णित्तुलिय तं पुणु सिद्धिहे मग्गएँ लायइ॥ (9.11)

- यह शरीर शुक्र व शोणित से उत्पन्न हुआ स्वभावतः अशुचि है - ऐसा जो मनुष्य ध्यान करता है उसे यह अनुपम अनुप्रेक्षा सिद्धि के मार्ग पर लगा देती है।

आस्रव भावना

बँधहोकारणु करेवि तणु अणुवेक्ख जो झायइपुणु हियए।

सो धणणउ सासयसोक्खरसु अविरामएँ सो णरु तहिँ पियए॥ (9.12)

- जो इस शरीर को बन्ध का कारण मानकर हृदय से इस अनुप्रेक्षा का ध्यान करता है वह मनुष्य धन्य है। वह शाश्वत सुखरूपी रस का अविराम भाव से पान करेगा।

संवर भावना

खमदमसहियउ गुणाणिलउ एयउ जो पयडिउ संवरइ।

अणुहुँजिवि सोक्खइँ सग्गे पुणु सो सिद्धिहे सम्मुहुँ संचरइ॥ (9.13)

- जो कोई क्षमा व दमन (इन्द्रिय-निग्रह) से सहित, गुणों का धारी होता हुआ इन कर्म-प्रकृतियों को संवर कर लेता है वह स्वर्ग में सुख भोगकर फिर सिद्धि (मोक्ष) की ओर गमन करता है।

निर्जरा भावना

णिञ्जरइ कम्मु संसुद्धमणु मणवयकाएँ जो वि णरु।

देवाण मज्जे भुंजेवि सुहु सो णिच्छइँ सिवपएलहइ घरु॥ (9.14)

- जो नर शुद्ध मन होकर मन-वचन-काय से कर्म की निर्जरा करता है वह देवों के बीच सुख भोगकर निश्चय ही शिवपद में घर (स्थान) पाता है।

लोक भावना

पालिवि पाँच महव्वयइँ लोयणुवेक्खहे जो मणु जुंजइ।

सो णरु धण्णु सलक्खणउ अमरहँ सुहइँ अणोयइँ भुंजइ॥ (9.15)

- जो कोई पाँच महाव्रतों का पालनकर इस लोकानुप्रेक्षा में अपने मन को लगाता है वह नर धन्य है, सुलक्षण है और वह देवों के अनेक सुख भोगता है।

बोधि दुर्लभ

अणुवेक्खाबोहिँएँ अणुसरिवि पुणि हियएँ चडाविय जेण लहु।

सिवकामिणिवयणहो मंडणउ कियउ खणद्धँ तेण बहु॥ (9.16)

- इस प्रकार बोधिपूर्वक अनुस्मरण करके जिसमें इस अनुप्रेक्षा को शीघ्र ही अपने हृदय पर चढ़ा लिया उसने क्षणार्द्ध में अपने को बहुत कुछ शिवरूपी कामिनी के मुख का मण्डन बना लिया (वह मोक्षमार्ग पर लग गया)।

धर्म भावना

दामोयर जिणवर धम्मँ फुडु पडिकेसव संकर सगिसुर।

कल्लाणइँ सयलइँ ते हवहिँ धम्मेण वि हलहर चक्कहर॥ (9.17)

- धर्म से ही स्पष्टतः दामोदर (नारायण), जिनवर, प्रतिनारायण, शंकर और स्वर्ग में देव होते हैं। उसी से सकल कल्याण प्राप्त होते हैं। धर्म से ही बलदेव और चक्रवर्ती होते हैं।

श्रावक के षडावश्यक कर्मों में दान भी एक है जिसे श्रावक नित्य पालता है। यह दान दो प्रकार से विभाजित है - एक अलौकिक व दूसरा लौकिक। अलौकिक दान साधुओं को तथा लौकिक दान साधारण प्राणियों को दिया जाता है। औषधि, ज्ञान और अभयदान की भाँति आहारदान भी लौकिक दान के अन्तर्गत आता है।

विवेच्य काव्य में साधुओं को दिए जाने वाले आहारदान की विधि आदि का वर्णन स्पष्टतः परिलक्षित है। कवि द्वारा आहारदान की विधि को इस काव्य के मूलनायक राजा करकंडु को कामविजयी शीलगुप्त मुनि के प्रवचन के माध्यम से समझाया गया है। यथा -

छहिँ कमहिँ जो णरु संचरइ छब्बासयछायउ जासु तणु।

असुहत्तउ लेसउ परिहरिवि जिणिबिम्बहो जुंजइ णियममणु॥ (9.20)

कर्ममुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त्यर्थं जैनदर्शन का लक्ष्य रहा है - वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति। यह वीतरागता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है। जैनदर्शन में रत्नत्रय के विषय में विस्तार से तर्कसंगत चर्चा हुई है। इसके अनुसार जीव-अजीव आदि नवविध तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान, तत्त्वों के यथार्थस्वरूप पर किया गया श्रद्धान/दृढ़ प्रतीति अर्थात् स्वात्मप्रत्यक्षपूर्वक स्व-पर भेद या कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन तथा आचरण द्वारा अन्तःकरण की शुद्धता अर्थात् कर्मबन्ध के वास्तविक कारणों को अवगत कर संवर (नवीन कर्मों को रोकना) तथा निर्जरा (पूर्वसञ्चित कर्मों को हप द्वारा क्षय करना) में लीन रहना सम्यक्चारित्र कहलाता है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन की महत्ता पर बल दिया गया है। उसे मोक्ष का प्रथम सोपान माना गया है। बिना सम्यग्दर्शन के सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान-अनुभूति तथा जीवन पद्धति मिथ्यादर्शी होती है। वास्तव में सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान, चारित्र, व्रत तथा तपादि सब निस्सार हैं। यह निश्चित है कि सम्यग्दर्शन से जीव सर्वप्रकार की मूढ़ताओं से ऊपर उठता चला जाता है अर्थात् उसे भौतिक सुख की अपेक्षा शाश्वत-आध्यात्मिक सुख का अनुभव होने लगता है।

प्रस्तुत काव्य में सम्यग्दर्शन का व्यवहार उस समय हुआ है जब चम्पा के उपवन में पधारे मुनि शीलगुप्त ने इस काव्य के मूलनायक राजा करकण्डु को उपदेश दिया। यथा -

सदंसणु जिणवरणिच्छएण, सदंसणु फिट्ठुइ मिच्छएण।
सदंसणु तच्चहँ सदहेण, संकाइय दोसहँ णिग्गहेण ॥ (9.21)

मोक्षमार्ग में व्रतों का अपना महत्त्व है। यावज्जीवन हिंसादि पापों की एकदेश या सर्वदेश निवृत्ति का होना व्रत कहलाता है अर्थात् सर्वनिवृत्ति के परिणाम को व्रत कहते हैं। जैनागम में इसके दो भेद किए गए हैं - अणुव्रत/देशव्रत और महाव्रत। गृहस्थों/श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत और साधुओं के लिए महाव्रतों के परिपालन का विधि-विधान है। अणुव्रतों एवं महाव्रतों के फलों के बारे में जैनागम में उल्लेख है कि अणुव्रत-युक्त सम्यग्दर्शन स्वर्ग का और महाव्रत-युक्त सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है।

विवेच्य काव्य में अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा महाव्रतों के स्वरूप की चर्चा बड़े मार्मिक ढंग से हुई है। मुनि शीलगुप्त राजा करकंड को धर्म और दर्शन की शिक्षा दे रहे हैं, वे अपने उपदेश में तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत व्रतों के स्वरूप और माहात्म्य का प्रतिपादन करते हैं। यथा -

अणुवइँ सुथूलइँ अक्खियाइँ, अइसुहुमइँ ताइँ महव्वयाइँ।
तसजीवहँ रक्खा जो करेइँ, सो माणउ पढमउ वउ धरेइँ ॥
णउ बोल्लइँ थूलि अलियवाणि, सो वीयउ अणुवउ धरइँ णाणि।
णउ चोरिँ गिणहइँ दव्वु जो वि, सो पालइँ अणुवउ तइयओ वि।
जो णारि पराईँ गणइँ माय, सो अणुवउ तुरियउ धरइँ राय।
परिमाणु परिग्गहे जो करेइँ, सो णखरइँ पंचमु वउ धरेइँ। (9.22)

समभावइँ जीवइँ जो णिएइ, परिभावइ संजुम जो हिएइँ। (9.23)

कणयामरसिवमाणिणि वरइ सो हवइ णिरुत्तउ ताहे वरु॥ (9.24)

राग की प्रचुरता को समाप्त करने के लिए अर्थात् कर्म-निर्जरा हेतु पाँच (अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु) का स्मरण-चिन्तवन वस्तुतः पूजा कहलाती है। यह दो प्रकार से होती है - एक भावपूजा जिसमें मन से अर्हन्तादि के गुणों का चिन्तवन होता है तथा दूसरी द्रव्यपूजा, जिसमें जल, चन्दनादि अष्टद्रव्यों से जो विभिन्न संकल्पों के प्रतीक हैं, जिनेन्द्र प्रतिमादि के समक्ष जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन-नमन किया जाता है। वास्तव में भक्तिपूर्वक की गई जिनेन्द्रपूजा से संसारी प्राणी समस्त दुःखों से मुक्त हो अपने कर्मों की निर्जरा कर मोक्षगामी होता है।

प्रस्तुत चरितकाव्य में कवि ने इस काव्य के प्रमुख राजा करकंड के पूर्वभव के जीव धनदत्त गोप के माध्यम से भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र-पूजा कराकर यह दर्शाया है कि संसारी प्राणी यदि अपने आराध्यदेव (जिनेन्द्र प्रभु) का स्तवन-स्मरण करता है तो वह इस भव या अगले भव में निश्चय ही सुख-वैभव-समृद्धि का भोग-उपभोग करता है। यथा -

कदमइँ विलित्तिहिं पयकरहिं जं अंचिउ जिणवरु जयतिलउ।

तैं कंडू तुह पए करे हुयउ इउ अक्खिउ मइँ तुह सुहणिलउ॥ (10.5)

ऐसी कोई भी क्रियाएँ जो तीनों गुप्तियों - मनसा-वाचा-कर्मणा से भोजन लेने में निमित्त का कार्य करती हैं, उन समस्त क्रियाओं को त्यागना-छोड़ना उपवास कहलाता है। उपवास का अर्थ है - आहार का त्याग। चित्त की निर्मलता व्यक्ति के भोजन-आहार पर निर्भर करती है। अपरिमित, असेवनीय, असात्विक, अमर्यादित, असन्तुलित आहार जीवन में आलस्य, तन्द्रा-निन्द्रा, मोह-वासना आदि कुप्रभावों कुत्सितवृत्तियों को उत्पन्न कर साधना में व्यवधान उत्पन्न करता है, अस्तु आहार का त्याग शक्त्यानुसार सावधि अथवा जीवनपर्यन्त किया जाता है।

आहार त्यागने का मूलोद्देश्य शरीर से उपेक्षा, अपनी चेतनवृत्तियों को भोजनादि के बन्धनों से मुक्त करना, क्षुधादि में साम्यरस से च्युत न होना अर्थात् सब प्रकार इच्छा-आसक्ति के त्यागने से रहा है। शरीर एवं प्राणियों के प्रति ममत्व भावों का विसर्जन अर्थात् समस्त तृष्णाओं का समापन तथा अन्तरंग में विषय/विकारों/कर्मकषायों से विमुक्ति/निर्जरा एवं आत्मबल की वृद्धि हेतु आहार का त्याग परमापेक्षित है। निश्चय ही उपवास से प्राणी-मन-इन्द्रिय संयम की सिद्धि होती है जिससे संसारी प्राणी समस्त पाप-क्रियाओं से विमुक्त होकर सम्पूर्ण अहिंसादि व्रत का पालन करता हुआ महाव्रती बनता है।

विवेच्य काव्य में चरितकार ने मूलनायक राजा करकंड की पत्नी पद्मावती को उपवास व्रत, उसके उद्यापन का विधि-विधान तथा उसके फल-परिणामादि को दृष्टान्त के माध्यम से बताकर उपवास की महत्ता का गुणगान किया है। यथा -

पडिवइँ आइ करेवि तहिं उववासइँ पुत्ति सया करहि।

हिय इच्छिय सो सुहु अणुहवइ सुरसेज्जहिं लीलए रइ करइ॥ (10.15)

चंदोवा सोलह जिणभवणे धय देविणु किंकिणिरवमुहल ।

एहो वयहो उवासइँ मणहरहो पावेसहि वंछिय सुह सयल ॥ (10.16)

जैनागम में तीर्थङ्कर के जीवनकाल के पाँच प्रसिद्ध घटनाओं का उल्लेख मिलता है जिन्हें पंच कल्याणक कहा जाता है क्योंकि वे अवसर/घटनाएँ जगत के लिए अत्यन्त कल्याण व मंगलकारी होती हैं। जो जन्म से ही तीर्थङ्कर प्रकृति लेकर उत्पन्न हुए हैं उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पाँच कल्याणकों का विधान है परन्तु जिस तीर्थङ्कर ने अन्तिमभव में ही तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध किया है उसको यथासम्भव चार, तीन तथा दो का भी विधान जैनागम में स्पष्टतः परिलक्षित है। वर्तमान में नवनिर्मित जिनबिम्ब की शुद्धि हेतु जो प्रतिष्ठापाठ किए जाते हैं वे इसी पंचकल्याणक की कल्पना हैं जिसके आरोप द्वारा प्रतिमा में तीर्थङ्कर की स्थापना होती है। कल्याणकों के माहात्म्य को देखते हुए धार्मिक प्राणी कल्याणक व्रत करते हैं।

करकंडचरिउकार ने पंचकल्याण व्रत का माहात्म्य तथा क्रिया-विधान को अपने इस चरिउकाव्य के प्रधान नायक करकंड के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। यथा -

गामेण पसिद्धउ भुवणयले पण कल्लाण विहाणु णिरुत्तउ ।

केवलणाणिहिँ महरिसिहिँ सव्वविहाणहँ तिलउ पउत्तउ ॥ (10.25)

x x x x x

पुणु दिण्णउ काओसग्गु चारु, विहिँ सयहिँ फारु ॥ (10.26)

इस प्रकार कवि मुनि कनकामरजी ने अपने इस करकण्डचरिउ में मूलनायक राजा करकंड को संसार में व्याप्त विभिन्न परिस्थितियों से सामना कराकर उसमें धर्म के बीज को बोया है, संसार की निस्सारता का ज्ञान कराया है, धार्मिक तत्त्वों के माध्यम से मूलनायक के अन्तरंग को कुरेदा है। फलस्वरूप वह भोग से योग की भूमि पर, राग से विराग के धरातल पर तथा संसार से मोक्ष के द्वार पर प्रतिष्ठित हुआ है। कवि ने पाठक को यह बतलाने की चेष्टा की है कि यदि व्यक्ति को सम्यक् उपादान व निमित्त मिल जाते हैं तो निश्चय ही अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इस काव्य में भी मूलनायक में धर्म के संस्कार तो हैं किन्तु वे सुप्त-प्रसुप्त हैं; उन्हें जब उपर्यङ्कित उपयोगी एवं कल्याणकारी धार्मिक तत्त्वों का निमित्त मिला तो भीतर पड़ी सुप्तचेतना जाग्रत हुई और दिशा एकदम बदल गई।

‘मंगलकलश’, 394, सर्वोदयनगर,
आगरा रोड, अलीगढ़ (उ.प्र.) 202001

करकंडचरिउ में सौन्दर्य-चित्रण

— डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'

अपभ्रंश-साहित्य न केवल अपने परवर्ती साहित्य को अनेक विधि प्रभावित करने के कारण ही मूल्यवान् है, अपितु अपनी मौलिक उद्भावना, सौन्दर्य-चेतना, कल्पना के मूर्त्त आकलन, नव-नव अप्रस्तुत-विधान, छन्दोनुशासन, मनोहारी बिम्ब, विधायिनी कुशलता, कथानक-रूढ़ियों के प्रयोग तथा नीतिपरक मधुरता की दृष्टि से भी प्रभूत समृद्धशाली है। इसके रचयिता जैन-मुनि और आचार्य यद्यपि वीतरागी महात्मा थे, तथापि उनकी कारयित्री प्रतिभा ने अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति के सहारे जो बिम्ब उभारे हैं, जो सौन्दर्य-सृष्टि की है, वह बेजोड़ है। लोक में रहकर भी वे अलौकिक भावना से संपृक्त बने रहे और वीतरागी होने पर भी लोकाचारों, लोक-व्यवहार तथा लोकानुभूतियों से अछूते नहीं रहे। लोक-जीवन और जगत् के इसी प्रसंग-संग ने इनकी काव्य-सर्जना को अनूठा बना दिया है, महिमामंडित कर दिया है। जहाँ उसमें सहजता-सरलता है वहाँ वक्रता का भी सौन्दर्य है। जहाँ लोक-जीवन की मधुर अभिव्यक्ति हुई है वहाँ आध्यात्मिकता का भी सरस प्रवाह है। जहाँ वस्तु-चित्रण में एक आकर्षण है वहाँ नूतन उद्भावनाओं में भी सौन्दर्य की सृष्टि हुई है। जहाँ अप्रस्तुत-योजना में उपमानों के प्रयोग से इनके सटीक सौन्दर्य-बोध का परिचय मिलता है वहाँ आन्तरिक भावों का भी सहज सौन्दर्य मन को लुभाता है। कहीं नख-शिख शृंगार का सजीव गत्यात्मक सौन्दर्य है, तो कहीं मानवीकरण

के प्रयोग से प्रकृति चैतन्य हो उठी है। इस प्रकार अपभ्रंश के इन कवियों का सौन्दर्य-चित्रण अद्वितीय और कलात्मक ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। स्वयंभू का 'पउमचरिउ', पुष्पदंत का 'जसहरचरिउ', श्रीधर का 'भविसयत्तचरिउ', अद्दहमाण का 'संदेश रासक', पुष्पदंत का 'महापुराण', धवलकवि-कृत 'हरिवंशपुराण' आदि इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। किन्तु, मुनि कनकामर के 'करकंडचरिउ' में तो ऐसे स्थलों की भरमार है। उनके सौन्दर्य-बोध और निरूपण में अद्भुत सामंजस्य है।

'करकंडचरिउ' में सौन्दर्य चित्रण को हम दो रूपों में देखते हैं - एक वस्तु-सौन्दर्य और दूसरा भाव-सौन्दर्य। महाकाव्यों और कथा-काव्यों में दोनों के निरूपण की पुरातन परम्परा रही है। वस्तु-सौन्दर्य से उन स्थलों या वस्तुओं के वर्णन का तात्पर्य है जहाँ कथानक या इतिवृत्त की विविध घटनाएँ घटित होती हुई आगे बढ़ती हैं और कथा-नायक के चरित्र को उजागर करती हैं। इनके अन्तर्गत नगर, प्रासाद, पुष्पवाटिका, उपवन, सरोवर, चित्रशाला, कुसुमशय्या, हाट, सेना, युद्ध-वर्णन आदि का चित्रात्मक निरूपण होता है। यथा - प्रथम संधि के तीसरे कड़वक में अंग देश और चौथे कड़वक में चम्पा नगरी का चित्रण बड़ा भव्य बन पड़ा है -

एत्थत्थि खण्णउ अंगदेसु, महिमहिलइँ णं किउ दिव्ववेसु।
जहि सरवरि उग्गय पंकयाइँ णं धरणिवयणि णयणुल्लयाइँ।
जहि हालिणिरुवणिवद्धणेह, संचल्लहिं जक्खण दिव्वदेह।
जहि बालहिं रक्खिय सालिखेत्त, मोहेविणु गीयाँ हरिणखंत।
जहि दक्खइँ भुंजिवि दुहु मुयंति, थलकमलहिं पंथिय सुहु सुयंति।
जहि सारणिसलिलि सरोयपंति, अइरेहइ मेइणि णं हसंति॥ (1.3.5)

अर्थात् ऐसे इस भरत क्षेत्र में रमणीक अंग देश है, मानो पृथ्वी-महिला ने दिव्य वेष धारण किया हो। जहाँ के सरोवरों में कमल उग रहे हैं, मानो धरणी के मुख पर सुन्दर नयन ही हों। जहाँ कृषक बालाओं के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर दिव्य देहधारी यक्ष भी स्तंभित तथा गतिशून्य हो जाते हैं। जहाँ बालिकाएँ चरते हुए हरिणों के झुण्डों को अपने गीत से मोहित करके धान के खेतों की रक्षा कर लेती हैं। जहाँ पथिक द्राक्षाफलों का भोजन कर अपनी यात्रा के श्रमजन्य दुःख से मुक्त होते और स्थल कमलों पर सुख से सो जाते हैं। जहाँ नहरों के पानी में कमलों की पंक्तियाँ ऐसी शोभायमान हो रही हैं, मानो पृथ्वी हँस रही हो। यहाँ प्रकृति का तो भव्य चित्रण है ही, किन्तु अंग देश से जोड़कर जो उत्प्रेक्षाएँ की गई हैं, वे अनूठी एवं मनोहारी हैं। इससे अंग देश की हरी-भरी, शस्य-स्यामला भूमि का तो परिचय मिलता ही है; वहाँ के जीवन की खुशहाली और प्रफुल्लता का भी संकेत सहज ही मिल जाता है। इसी प्रकार चम्पानगरी का वर्णन अतीव मोहक और कलापूर्ण है -

जा वेढिय परिहाजलभरेण, णं मेइणि रेहइ सायरेण।
उत्तुंगधवलकउसीसएहिं, णं सग्गु छिवइ बाहूसएहिं।
जिणमंदिर रेहहिं जाहिं तुंग, णं पुण्णपुंज णिम्मल अहंग।
कोसेयपडायउ घरि लुलंति, णं सेयसप्प णहि सलवलंति।

जा पंचवणमणिकिरणदित्त, कुसुमंजलि णं मयणेण धित्त।
 चित्तलियहिं जा सोहइ घरेहिं, णं अमरविमाणहिं मणहरेहिं।
 णवकुंकुमछडयहिं जा सहेइ, समरंगणु मयणहो णं कहेइ।
 रत्तुप्पलाइँ भूमिहिं गयाइँ, णं कहइ धरंती फलसयाइँ।
 जिणवासपुज्जमाहप्पएण, ण वि कामुय जित्ता कामएण। (1.4.1)

अर्थात् वह चम्पा नगरी जल से भरी खाई से घिरी होने के कारण सागर से वेष्टित पृथ्वी के समान सुशोभित हो रही है। वह अपने ऊँचे प्रासाद-शिखरों से ऐसी प्रतीत होती है मानो अपनी सैकड़ों भुजाओं द्वारा स्वर्ग को छू रही हो। वहाँ विशाल जिनमन्दिर ऐसे लगते हैं मानो निर्मल अभंग पुण्य के पुंज हों। घर-घर रेशम की पताकाएँ उड़ रही हैं, मानो आकाश में श्वेत सर्प लहरा रहे हों। वे पचरंगी मणियों की किरणों से ऐसी देदीप्यमान हो रही हैं, मानो मदन ने अपनी कुसुमांजलि चढ़ाई हो। वे चित्रमय घरों से ऐसे सुशोभित हैं मानो देवताओं के मनहर विमान हों। नई केशर की छटा ऐसी लग रही है मानो कह रही हो कि मदन का समरांगण यही तो है। वहाँ स्थान-स्थान पर रक्त-कमल खिले हुए ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो धरती कह रही हो कि मैं ही सब प्रकार के फलों को धारण करती हूँ। वहाँ भगवान् वासुपूज्य के माहात्म्य से पुरुष कामी होकर भी कामदेव द्वारा जीते नहीं जाते। यहाँ भी उत्प्रेक्षाओं की विभूति सचमुच बड़ी दिव्य है। कवि जैसे इनकी परिकल्पना में प्रतिपाद्य के अनुरूप सामान्य लोक-भूमि से ऊपर उठ जाता है। यही उसके सौन्दर्य-बोध और निरूपण का सामंजस्य है। सौन्दर्यानुभूति की यह दिव्यता यहाँ अनूठी है।

इसी प्रकार पुष्पदंत ने 'जसहरचरिउ' में यौधेय देश का वर्णन किया है। यहाँ भी कहीं मानव-जीवन की उपेक्षा नहीं की गई है। उसकी दृष्टि में प्रासादों का आनन्दमय जीवन ही नहीं है, बल्कि ग्रामीणों के सहज, स्वाभाविक, सरल, मधुर जीवन को भी उसने चित्रित किया है। गाय-भैंस, ग्वाल-बालों के गीतों की मधुरता, ईख के खेत, तोतों की पंक्तियाँ आदि दृश्य इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं, यथा -

जोहेयउ णामि अत्थि देसु, णं धरिणए धरियउ दिव्वेसु।
 जहिं चलइं जलाइं सविब्भमाइं, णं कामिणि कुलइं सविब्भमाइं।
 कुसुमिय फलियइं जहिं उववणाइं, णं महि कामिणिणव जोव्वणाइं।
 मंथर रोमंथण चलिय गंड, जहिं सुहि णिसण्ण गोमहिसि संड।
 जहिं उच्छुवणइं रस दंसिराइं, णं पवण वसेण पणच्चिराइं।
 जहिं कणभर पणविय पिक्क सालि, जहिं दीसइं सयदलु सदलु सालि।
 जहिं कणिसु कीर रिंछोलि चुणइं, गह वइ सुयाहि पडिववणु भणइं।
 जहिं दिण्णु कण्णु वणि मयउलेण, गोवाल गेय रंजिय मणेण?

रानी पद्मावती की गर्भावस्था का चित्रण करते हुए कवि कनकामर ने लोकानुभूति को जैसे साकार कर दिया है - उसके शरीर में अपूर्व छाया उत्पन्न हुई। उसके उज्ज्वल कपोल पीले पड़ गये। उसके उर में अब मोतियों का हार सुशोभित नहीं होता, क्योंकि पयोधरों के तेज ने

उसका सौन्दर्य हरण कर लिया था। उस हार ने भी डोल-डोलकर स्तनों के मुखों को काजल के समान काला कर डाला था। खल का भी जब लड़-लड़कर सिर झुका दिया जाता है तभी वह गुणीजनों के प्रति मत्सरहीन होता है। रानी के उदर की त्रिबली मानो बालक के भय से लज्जायुक्त होकर नष्ट हो गई। पेट के बड़े भार से उसकी गति मन्द पड़ गई तथा आलस, जम्हाई और तंद्रा की वृद्धि हो गई। इस प्रकार बालक गर्भ के सारभूत लक्षणों को प्रकट करता हुआ माता के विशाल अंग में रहने लगा -

वियंभिय अंगे अउव्विय छाया, कवोल समुज्जल पंडुर जाय।
पओहरतेयविडंबियसारु, उरम्मि ण छज्जइ मोत्तियहारु।
घुलंतइँ तेण थणाहँ मुहाइँ, सकज्जलवण्णइँ ताइँ कयाइँ।
खलो वि रपोहिं विणामियसीसु, णिमच्छरु होइ गुणीण गुणीसु।
वलित्तउ लज्जए जुत्तु खणेण, पणट्टउ बालहो णाइँ भएण।
सुपोट्टभरेण हुआ गइ मंद, समालसजिंभ पवड्ढिय तंद। (1.9.2)

श्मशान का चित्र तो जैसे वीभत्स-रस की अवतारणा में अपना सानी नहीं रखता - वहाँ की भूमि विदीर्ण हुए जीवों की स्थिति और रुधिर से भर रही थी। मांस के लोभी गीध व अन्य प्राणी वहाँ नाच रहे थे। लपलपाती जीभोंवाले भालू मृत शरीरों का पेट फाड़ रहे थे। मांसाहारी राक्षस फे-फे करते हुए वहाँ फिर रहे थे। उड़ते और रेंगते लाखों पक्षियों की वहाँ भीड़ लगी थी। आग की ज्वाला में जलते हुए जीवों से सारी भूमि भरी थी। मृत-शरीरों के केश वायु के झोकों से लहरा रहे थे और स्थान-स्थान पर बँधी झंडियाँ फहरा रही थीं। जीवों के मृत शरीरों की सड़ी गंध से वहाँ मनुष्यों को ज्वर आ जाता था। भग्न हुए खप्परों के वहाँ कहीं-कहीं ढेर लगे थे -

दारियाहँ जीवयाहँ लोहिण थिप्पिरं, अमिसाण गिद्धएहिं भूयएहिं णच्चिरं।
लोलजीह भल्लुएहिं फाडियं मयोवरं, मंसरत्तफेक्करंतरक्खसाण गोयरं।
उड्डिराण रिंगिराण पक्खिलक्खसंकुलं, चिच्चिजालजीवग्गडज्झमाणआउलं।
वायएण सीसभूयकेसभारलोलिरं, थामि थामि बद्धियाहिं चिंधियाहिं घोलिरं।
देहिदेहगंधएण माणुसेहिं जूरियं, कहिं मि थामे भग्गएहिं खप्परेहिं पूरियं। (1.17)

राज-प्रासाद के चित्रण में भी कवि की कुशलता और उपमानों की भव्यता दर्शनीय है - वह राजनिकेत हिमवंत के शिखर के समान अति मनोहर था। वह मुक्ताफलों की माला के तोरणों से मानो अपने सघन श्वेत दाँतों से हँस रहा था। किंकिणियों की ध्वनिसहित अपनी ध्वजा और पताकाओं की मालासहित ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई प्रणयिनी ताल दे-देकर नाच रही हो। सुवर्ण और मणिरत्नों से जड़ा हुआ वह ऐसा दीख पड़ रहा था मानो स्वर्ग से देवों का विमान आ पड़ा हो -

तैं दिट्टउ रायणिकेउ तुंगु, अइमणहरु णं हिमवंतसिंगु।
मुक्ताहलमालातोरणेहिं, णं विहसइ सियदंतहिं घणेहिं।
किंकिणिरणंतु धयवडवमालु, णं णच्चइ पणयिणि विहियतालु।
चामीयरमणिरयणेहिं घडिणु, णं सग्गहो अमरविमाणु पडिउ। (3.3.3)

सरोवर में पूजा के लिए कमल लेने आये हाथी का चित्रण बड़ा नैसर्गिक बन पड़ा है और क्रियाओं से तो मानव-सदृश चेतना का सहज परिचय मिलता है - सरोवर में से कमल लेने के लिए आता हुआ वह करीन्द्र ऐसा प्रतीत होता था मानो एक पर्वत समुद्र के पास आया हो। वह कानों से झलझल स्वर उत्पन्न कर रहा था और कपोलों से मद बहा रहा था। उसके लोचन खूब लाल थे। दाँतों से वह प्रशंसनीय था। उसकी रीढ़ चढ़ाए हुए चाप के समान उठी हुई थी। वह भौरों के पुंजों को दूर हटाता जा रहा था और सूँड के जल से दिशामुखों को भर रहा था। वह सूँड से सैकड़ों कमलों को तोड़ रहा था और सिर पर मोतियों की माला धारण किये था। सचमुच यह चित्र बड़ा ही भव्य है -

सरोवरे पोमइँ लेवि करिंदु, समायउ पव्वउ पाइँ समुहु।
झलाझल कण्णरणेण सरंतु, कवोलचुएण मएण झरंतु।
सुपिंगललोयणु दंतहिं संसु, चडावियचावसमुण्णयवंसु।
दुरेहकुलाइँ सुदूरे करंतु, दिसामुह सुंडजलेण भरंतु।
करेण सरोयसयाइँ हरंतु, सुमोत्तियदाम सिरेण धरंतु। (4.6.4)

शिल्पी के द्वारा टाँकी चलाने पर निकली जलवाहिनी के सौन्दर्य का चित्रण तो कवि ने अनेक उत्प्रेक्षाओं द्वारा किया है, जैसे उसकी संपूर्ण श्रद्धा इस प्रकार प्रकट हो गई है - भारी चोटें पड़ने से चिनगारियाँ निकलने लगीं, मानो शेषनाग के क्रोधवश जल उठने के चिह्न हों। फिर उस गाँठ के मुख से शीघ्र ही एक बड़ी भारी जल की धारा निकल पड़ी। पहले भुक-भुक करती हुई निकली, मानो मेदिनी भय से वमन करने लगी हो। बाहर निकलती हुई वह ऐसी प्रतीत हुई मानो पृथ्वी को भेदकर नागेन्द्र की गृहिणी निकल पड़ी हो। भूमि में मिलकर वह ऐसी सुशोभित हुई मानो गंगा नदी खल-खला रही हो। उसने क्षणभर में ही सारे लयण को जल से भर दिया, मानो रसों से भरा अमृत कुण्ड हो अथवा जल के बहाने से धर्म-सार भरा हो। अनेक ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से यहाँ चित्र अपेक्षाकृत सजीव-साकार हो उठा है तथा उपमानों के उचित प्रयोग से पवित्रता पूरित हो गई है जो सर्वथा प्रतिपाद्य के अनुरूप है -

गुरुघायवडणें णिग्गय फुलिंग, णं कोहवसइँ अहिजलणलिंग।
तहे गंठिहे वयणहो बहलफार, ता णिग्गय तक्खणि सलिलधार।
पढमउ भुंभुक्कइ णिग्गमेइ, णं मेइणि भीएँ उव्वमेइ।
णिग्गंती वाहिरि सा विहाइ, महि भिंदिवि फणिवइघरिणि णाइँ।
परिसहइ सा वि भूमिहिं मिलंति, गंगाणइ णं खलबल खलंति।
पसरंतिए ताएँ खणेण भव्वु, तं भरियउ लयणु जलेण सव्वु।
णं अमिय कुंडु बहुरसजलेण, णं धम्मसारु थिउ जलछलेण। (4.14.2)

युद्ध-वर्णन में कैसी अद्भुत गत्यात्मकता है - युद्ध का जीता-जागता चित्र ही उपस्थित हो गया है - नगाड़ों पर चोट पड़ीं जिससे भुवन-तल भर गया। बाजे बज रहे हैं, सैन्यदल सज रहे हैं। व्यूह रचित होने पर सेनाएँ शत्रुबल से भिड़ गईं। भाले भग्न हो रहे हैं, कुंजर गरज रहे हैं, योद्धा वेग से बढ़ रहे हैं, हाथी के दाँतों से भिड़ रहे हैं। गात्र टूट रहे हैं, सिर फट रहे हैं। रुण्ड दौड़ रहे हैं, शत्रु स्थान प्राप्त कर रहे हैं। आँतें निकल रही हैं, रुधिर में लथपथ हो रही हैं। हड्डियाँ मुड़ रही हैं, ग्रीवाएँ टूट रही हैं -

ता हयइँ तूराइँ, भुवणयलपूराइँ।
 वज्जंति वज्जाइँ, सज्जंति सेण्णाइँ।
 आणाएँ घड़ियाइँ, परबलइँ भिडियाइँ।
 कुंताइँ भज्जंति, कुंजरइँ गज्जंति।
 रहसेण वगंति, करिदसणे लग्गंति।
 गत्ताइँ तुट्ठंति, मुंडाइँ फुट्ठंति।
 रुंडाइँ धावंति, अरिथाणु पावंति।
 अताइँ गुप्पंति, रुहिरेण थिप्पंति।
 हड्ढाइँ मोडंति, गीवाइँ तोडंति। (3.15)

जब वामी की भक्ति-सहित पूजा करके हाथी चला जाता है तब करकंड सरोवर के निकट जाता है। उस समय कवि सरोवर का चित्रण मानवीकरण अलंकार के माध्यम से करता हुआ कहता है - राजा को अपने निकट आता हुआ देखकर मानो सरोवर पक्षियों के कोलाहल के ब्याज से कह रहा है कि यह जल हस्तियों के कुंभस्थलों द्वारा कलश धारण किये था और तृष्णातुर जीवों को सुखी करता था। वह उच्च दण्डों के कमलों द्वारा उन्नति वहन कर रहा था और उछलती मछलियों के माध्यम से मन के उत्साह को प्रकट कर रहा था। फेन-पिण्डरूपी दाँतों से हँस रहा था एवं निर्मल तथा प्रचुर गुणों सहित चल रहा था। विकसित कमलों द्वारा वह अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहा था और विविध विहंगों के रूप में नाच रहा था। भ्रमरावली की गुंजार द्वारा वह गा रहा था और पवन से प्रेरित जल के द्वारा दौड़ रहा था -

आवंतहो तहो अइदिहि जणंतु, खगरावइँ आवहु णं भणंतु।
 जलकुंभिकुंभकुंभइँ धरंतु, तण्हाउरजीवहुँ सुहु करंतु।
 उहंडणलिणउण्णह वहंतु, अइणिम्मलपउरगुणोहिं जंतु।
 पच्छण्णउ वियसियपंकएहिं, णच्चंतउ विविहविहंगएहिं।
 गायतंतु भमरावलिरवेण, धावंतउ पवणाहयजलेण। (4.7.2)

इसी प्रकार भीषण वन और लयण-वर्णन (4-4.5-52), जल-वाहिनी का वर्णन (4-24-58), रतिवेगा का विलाप-वर्णन (7-11-99), हाथी द्वारा राजा के चयन का वर्णन (2-1-16) आदि अनेक स्थल सौन्दर्य की दृष्टि से अनूठे हैं।

भाव-सौन्दर्य के विचार से भी विभिन्न स्थलों पर कवि ने सुन्दर अवतारणा की है। इसमें बाह्य-रूप एवं आभ्यन्तर-भाव की मनोहारी छटा कवि ने उकेरी है। कहीं-कहीं तो अप्रस्तुत योजना के सहारे भाव की सजीवता और पवित्रता हृदय को छू जाती है और इसकी कल्पना-चातुरी के समक्ष नत-मस्तक हो जाना पड़ता है। भावों की मूर्त्त-संयोजना और चित्रण में मुनि कनकामर की कला-प्रवीणता देखते ही बनती है।

श्मशान में पुत्र-जन्म लेते ही एक मातंग आ जाता है। उसका रूप-चित्रण करता हुआ कवि कहता है - उसका रंग काला और नेत्र लाल थे। वह उस नवजात शिशु के पास आया और अपने हाथों में बालक को ऐसे उठा लिया मानो विशाल हाथी ने स्वर्ण-कलश को उठा लिया हो। उसके हाथ में बालक इस प्रकार शोभा दे रहा था मानो काले नाग के फण पर मणि चमक रही हो। यहाँ बालक की सुकुमारता, सौन्दर्य तथा दिव्यता की विभूति का तो चित्रण हुआ है, मातंग की भयंकरता से मां के शंकित हृदय की भी मौन झाँकी प्रस्तुत हो गई है -

कसणच्छवि लोयण रत्त जासु, सो आयउ तहि णंदणहो पासु।
उच्चायिउ तें सो णियकरेण, णं हेमकलसु कुंजरवरेण।
तहिं करयलि थक्कउ सोह देइ, णं फणिवइमत्थइँ मणि सहेइ। (2.1.6)

नगर-आगमन के समय करकंड के दर्शन के लिए नारियों की विह्वलता का दृश्य बड़ा भव्य, भावात्मक और आकर्षक है - कोई रमणी उत्कंठित होकर वेग से चल पड़ी, कोई विह्वल होकर द्वार पर ही खड़ी रह गई। कोई नए राजा के स्नेह से लुब्ध होकर दौड़ पड़ी, उस मुग्धा को अपने गलित हुए परिधान की भी सुध न रही। कोई अपने अधर में खूब काजल देने लगी और नेत्रों में लाक्षारस करने लगी। कोई निर्ग्रन्थ-वृत्ति का अनुसरण कर रही थी, तो कोई अपने बालक को विपरीत कटि पर ले रही थी। कोई बाल नूपुर को करतल में पहन रही थी और माला को सिर छोड़कर कटितल पर धारण कर रही थी। कोई बेचारी अनुराग में इतनी डूब गई कि बिलौटे को अपना पुत्र समझकर उसे छोड़ती ही नहीं थी। कोई नये राजा को मन में धारण कर दौड़ रही थी और विह्वल हुई भूमि पर चलती-चलती मूर्च्छित हो रही थी -

क वि रहसइँ तरलिय चलिय णारि, विहडप्फड संठिय का वि वारि।
क वि धावइ णवणिवणेहलुद्ध, परिहाणु ण गलियउ गणइ मुद्ध।
क वि कज्जलु बहलउ अहरे देइ, णयणुल्लएँ लक्खारसु करेइ।
णिगंथवित्ति क वि अणुसरेइ, विवरीउ डिंभु क वि कडिहिं लेइ।
क वि णेरु करयलि करइ बाल, सिरु छंडिवि कडियले धरइ माल।
णियणंदणु मण्णिवि क वि वराय, मज्जारु ण मेळइ साणुराय।
क वि धावइ णवणिउ मणे धरंति, विहलंगल मोहइ धर सरंति। (3.2.2)

भाव-शबलता की यह मनःस्थिति बड़ी स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है। प्रेमानुभूति में प्रायः ऐसा होता ही है। श्रीमद्भागवत में रास के समय मुरली-ध्वनि सुनने पर परम प्रेममयी गोपांगनाओं की भी ऐसी अवस्था का चित्रण दर्शनीय है - बंशी-ध्वनि सुनकर जो गोपियाँ दूध दुह रही थीं, वे अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर चल पड़ीं। जो चूल्हे पर दूध औटा रही थीं, वे उफनता हुआ दूध छोड़कर, और जो लपसी पका रही थीं, वे पकी हुई लपसी बिना उतारे ही ज्यों-की-त्यों छोड़कर चल दीं। जो भोजन परस रही थीं वे परसना छोड़कर, जो छोटे-छोटे बच्चों को दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़कर, जो पतियों की सेवा-सुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर अपने कृष्ण प्यारे के पास चल पड़ीं। कोई-कोई गोपी अपने शरीर में अंगराग, चन्दन और उबटन लगा रही थीं और कुछ आँखों में अंजन लगा रही थीं। वे उन्हें छोड़कर तथा उल्टे-पल्टे वस्त्र धारणकर चल पड़ीं।³ 9वीं संधि में भी मुनि-दर्शन के लिए नर-नारियों में ऐसे ही उत्साह-भाव का चित्रण किया गया है। उसमें पूज्य और श्रद्धा का पवित्र समावेश है।⁴

करकण्ड के चम्पानरेश के साथ युद्ध में पद्मावती के उपस्थित होने और पिता-पुत्र का परिचय कराने पर, जब वह अपने पति के पास खड़ी हुई सुशोभित हुई तथा चम्पा-नरेश उसकी ओर देखने लगे - बरसों के वियोग के बाद हुए इस मिलन में कितनी पवित्रता और भावात्मकता है, इसे पति-पत्नी ही हृदयंगम कर सकते हैं - चम्पा-नरेश ने उसे देखा जैसे रत्नाकर गंगा-नदी को देखता है - यहाँ उपमा की सार्थकता और प्राञ्जलता दर्शनीय है - 'सा दिद्विय चंवणरेसरेण, गंगाणइ णं रयणायरेण'। इसी प्रकार पिता-पुत्र के आलिङ्गन को श्रीकृष्ण और प्रद्युम्नकुमार के समान कहकर व्यक्त किया है - यह दृष्टान्त अलंकार बड़ा सटीक है - 'जह संगरे जाइवि तेयणिहि पज्जुणु कुमरु दामोयरिण।' लयण में ले जाने के लिए जब करकंड ने जिनबिम्ब को उठाया, तो कवि कहता है जैसे लंकेश्वर ने कैलाश को उठाया हो - 'कइलालु णाई लंकेसरेण।' दोनों हाथों से सिर के ऊपर रखा हुआ वह बिंब ऐसा प्रतीत हुआ जैसे हरि ने गोवर्द्धन को उठा लिया हो - 'विहिं करहिं धरिउ सिरउवरि भाइ, गोवद्धणु हरिणा कलिउ णाई'। सरोवर में प्रवेश करके ग्वाले ने जब कमल तोड़ लिया, तो कवि कल्पना करता है मानो सरोवर का सिर काट लिया गया हो - 'णं खुडिमु सरोवरसिरु खणेण' - जैसे सरोवर रूप-विहीन हो गया, क्योंकि रूप तो सिर से ही सुशोभित होता है, इस भाव की व्यंजना बड़ी सटीक बन पड़ी है। मुनि से प्रभावित होने पर करकंड के वैराग्य-भाव की निरूपणा कितनी करुणापूरित और हृदयविदारक है -

उप्पाडिय कुंतल कुडिलवंत, णं कम्मभुवंगम सलवलंत।

तिणासमउ गणिवि अंतेउराइँ, परिहरियइँ अंगतो अबराइँ। (10.23)

सेना की गंध पाने पर हाथी के क्रोधित रूप का चित्रण देखिए - उसके अनुभावों ने जैसे क्रोधभाव को साकार कर दिया है - अपनी सूँड उठाकर व सिर हिलाकर हाथी ने मुख मोड़कर उस ओर अवलोकन किया। उस सेना को देखकर वह भड़क उठा और मद की गंध का लोभी

वह हाथी सूँड को दाँत पर रखकर गुलगुलाता हुआ, पैरों के भार से पृथ्वी को रोंदता हुआ दौड़ पड़ा -

उच्चाइवि करयलु सिरु धुणेवि, अवलोइय करिणा मुहु वलेवि।

सा पेक्खिवि सो करिवरु विरुद्ध, उद्धाविउ करि मयगंधलुदधु।

करु दसणे करंतउ गुलुगुलंतु, पयभारें मेइणि णिइलंतु। (5.14)

इस प्रकार आंतरिक भावों और अनुभावों के चित्रण में कवि ने जिस सौन्दर्य की सृष्टि की है उसमें उसकी कला-पटुता एवं सौन्दर्य-बोध का परिचय मिलता है। उसके लिए जिन अलंकारों तथा अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है वे बड़े सार्थक और सटीक हैं। कहीं-कहीं तो उनके द्वारा भावों की पवित्रता इस कथा-काव्य के उद्देश्य को भी इंगित करती है। और कहीं रूप-चित्रण में सौन्दर्य की दृष्टि से चार चाँद लग गये हैं। पहली संधि में ही पद्मावती का नख-शिख-निरूपण प्रतीप तथा उत्प्रेक्षा के माध्यम से अतीव सौन्दर्य का केन्द्र बन गया है - नखों के रूप में मानो सूर्य-चन्द्र इसका अनुसरण करते हैं। इसके शरीर की इच्छा करती हुई कदली इसकी जंघाओं का अनुसरण करने लगी है। ऐरावत हाथी ने उनके समक्ष अपनी सूँड को भला न जान, मानो मेरु के उच्च शिखर का सेवन किया है। सुरगिरि ने अपने से भी कठिन मानकर इस ललित-देह रमणी के नितंब का अनुसरण किया है। नाभि की गहराई तो इतनी है कि जैसे समुद्र ने उसे ही अपनी कन्या मानकर उपहार में दी हो। उसके रेखांकित पीन और उन्नत स्तन तो ऐसे हैं मानो नये घावों से युक्त हाथी के कुम्भ ही हों। करपल्लवों की शोभा से युक्त उसकी भुजा-लताओं की सुडौलता का क्या वर्णन करूँ? दंतावलि ऐसी चमकदार है मानो अनार के दानों का ही अनुसरण कर रही हो। नासिका की उन्नति को सहन न करने से ही उसके अधरों ने लालिमा धारण कर ली है। उसके श्वेत और कृष्ण नयन-तारे ऐसे सोहते हैं मानो केतकी के पत्र पर दो बड़े-बड़े भौरें आ बैठे हों। उसकी कुटिल भृकुटियाँ ऐसी भाती हैं मानो मदन ने अपनी धनुर्यष्टि धारण की हो। भाल-तल ऐसा है मानो अर्धचन्द्र ही शोभा दे रहा हो। भौरों के समान काले केश सिर पर लहलहाते ऐसे प्रतीत होते हैं मानो उसके मुख-चन्द्र के भय से अन्धकार वहाँ मिलकर काँप रहा हो, यही गत्यात्मक सौन्दर्य है -

तणुरूवरिद्धि एह अइविहाइ, णहरूवइँ रविससि सरिय णाइँ।

सारउ सरीरु इच्छंतियाए, इह सारिउ जंघउ कयलियाए।

करिराएँ मण्णेवि करु ण चंगु, णं सेविउ मेरुहि आहि तुंगु।

सुरगिरिणा गणियउ कडिण एह, अणुसरिय णियंबहो ललियदेह।

पिहुलत्तणु मणहरु सोणियाहि, घरु मण्णिवि मयणें विहिउ ताहि।

मयरहरइँ गहिरिम णाहियाहे, णं धीय भणेविणु दिण्ण आहे।

तहि लिहियइँ पीणुण्णयथणाइँ, णं कुंभिहे कुंभइँ, णववणाइँ।

किं वण्णमि सरलिम भुवलयाहिं, करपल्लव सोहा संजुआहिं।

दंतावलि सोहइ विप्फुरंति, णं दाडिमवीयहँ अणुहरंति।

णासहे उण्णइ असहंतएण, रत्तत्तणु धरियउ अहरएण।
 सियकसण नयण सोहंति वार, णं केययदेलि गय भमर तार।
 अइकुडिली भउहावलि विहाइ, धणुलट्टि व मयणं धरिय णाईं।
 सोहामहग्घु भालयलु भाइ, अब्धिंदु व लग्गउ सहइ णाईं।
 अलिणीलकेस सिररुह घुलंति, मुहइंदुभयइं णं तम मिलंति। (1.16)

यही नहीं, कवि ने यहाँ सौन्दर्य-चित्रण के नव-नव आयाम उद्घाटित किये हैं। अमूर्त के मूर्तिकरण के द्वारा जैसे सौन्दर्य सजीव हो उठा है। जिनेन्द्र की स्तुति करता हुआ वह नृपवर कहता है - यहाँ रूपक अलंकार का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। आप कर्मरूपी वृक्ष को काटनेवाले कुठार हैं - 'जय कम्मविडविच्छिंदण कुठार'। आप पापान्धकार को नाश करनेवाले दिनेश हैं, आपकी जय हो - 'जय पावतिमिरफेडणदिणेस'। आप रागरूपी भुजंग को दमन करने के लिए मंत्र तथा मदनरूपी इक्षु को पेरने के लिए उत्तम यंत्र हो - 'जय रायभुवंगमदमणमंत, जय मयणइक्खुपीलणसुजंत'। आप जयश्रीरूपी वधू के कर्णावतंस एवं भव्यजनों के मनरूपी सरोवर के राजहंस हो - 'जय जय सिरिबहुकण्णावतंस, जय भवियणमणसररायहंस'। इसी प्रकार करकंड के पुनर्मिलन से रतिवेगा की आंतरिक प्रसन्नता को उपमा अलंकार के सहारे जैसे मूर्त कर दिया गया है - अपने पति को देखकर हर्ष से उसकी आँखों में अञ्जुल भर आया। वह कृशांगी ऐसी चमक उठी जैसे कृष्णवर्ण सजल मेघ बिजली से चमक उठता है अथवा मयूरी सजल मेघ को देखकर नाच उठती है -

रइवेयइं दिट्टुउ णियरमणु तहिं हरिसइं वड्ढिउ अंसुजलु।

ता विञ्जु चमक्किअ कसणतणु सिहिकंतएँ णं जलहरु सजलु॥ (8.17)

अस्तु, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'करकंडचरिउ' में सौन्दर्य-चित्रण के लिए उसके कवि ने अनेक बिन्दु खोजे हैं। जहाँ वस्तु-योजना की है, वहाँ भावात्मक उद्भावनाएँ भी की हैं। लेकिन कहीं भी मानव-जीवन की उपेक्षा नहीं की है। इस प्रकार कथा-संगठन में तो चार चाँद लग ही गये हैं, उसकी कल्पना-कुशलता का भी सहज परिचय मिल जाता है जो सफल और सिद्धहस्त कवि के लिए अपेक्षित है। यह सौन्दर्य भौतिक और लौकिक दृष्टि से तो आकर्षक है ही, अलौकिक सृष्टि और उद्भावनाओं के कारण बड़ा भव्य एवं अद्वितीय हो गया है। इसी से इसकी अप्रस्तुत योजना में दिव्यता का समावेश हो गया है। इसमें जहाँ बहुत-से इतिवृत्तात्मक-वृत्तों और घटनाओं को सँजोया गया है, उनके रूप को साकार तथा दर्शनीय बनाया गया है; वहाँ रूप-चित्रण में अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य को भी उभारा गया है एवं अलंकारों-अप्रस्तुतों के सहारे आंतरिक भावों को भी मूर्त करके सौन्दर्य के नए आयाम तलाश लिये गये हैं। अप्रस्तुत-योजना में कवि की सर्वोपरि विशेषता यह रही है कि उसमें नवीनता और मौलिकता है, घिसे-पिटे पुरातन अप्रस्तुतों को उसने बहुत कम प्रयोग किया है। पुनः उसके उद्देश्य की पवित्रता और धार्मिकता को भी इनसे बड़ा बल मिला है। इस प्रकार यह सौन्दर्य-चित्रण, काव्य-कला के विचार से

कलात्मक, मधुर और आकर्षक बन गया है, वहाँ आध्यात्मिक उपलब्धि का भी आधार बन गया है। उसमें जहाँ उज्ज्वलता और उदात्तता है वहाँ नव्यता, दिव्यता और पावनता भी है, पर कहीं माँसलता और ऐहिकता नहीं है।

-
1. करकंडचरिउ - संपा. डॉ. हीरालाल जैन, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
 2. जसहरचरिउ - संपा. डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य, 1.3.14, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
 3. दुहन्त्योऽभिययुः कश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
 पयोऽधिश्चित्यसंयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥
 परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पापयन्त्यः शिशून् पयः।
 शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिद्श्रन्त्योऽपास्य भोजनम्॥
 लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अंजंत्यः काश्चः लोचने।
 व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णांतिकं ययुः॥

- श्रीमद्भागवत, 10वाँ स्कंध, अध्याय 29, 5.6.7

4. क वि माणिणि चल्लिय ललियदेह, मुणिचरणसरोयहँ बद्धणेह।
 क वि षेउरसदँ रणझणंति, संचल्लिय मुणिगुण षं थुणंति।
 क वि रमणु ण जंतउ परिगणेइ, मुणिदंसणु हियवएँ सइँ मुणेइ।
 क वि परिमलु बहलु वहंति जाइ, विज्जाहरि षं महियलि विहाइ। (9.2.3)

- 49 बी, आलोक नगर

आगरा - 282010

णं धरणिण् धरियउ दिव्ववेसु

पुणु पभणमि जसहरणिवचरित्तु
 बहुदीवमहण्णवमंडलिल्लि
 वित्थिण्णण्णं जंबूदीवि भरहें
 जोहेयउ णामिं अत्थि देसु
 जहिं चलइं जलाइं सविब्भमाइं
 भंगालइं णं कुकइत्तणाइं
 कुसुमियफलियइं जहिं उववणाइं
 गोवालमुहालुंखियफलाइं
 मंथररोमंथणचलियगंड
 जहिं उच्छुवणइं रसदंसिराइं
 जहिं कणभरपणविय पिक्क सालि
 जहिं कणिसु कीररिंछोलि चुणइ
 छोक्करणरावरंजियमणेण
 जहिं दिण्णु कण्णु वणि मयउलेण
 जहिं जणधणकणपरिपुण्ण गाम

घत्ता - रायउरु मणोहरु रयणंचियधरु तहिं पुरवरु पवणुद्धयहिं।
 चलचिंधहिं मिलियहिं णहयलि घुलियहिं छिवइ व सग्गु सयं मुअहिं॥

वइयरविचित्तु जं जेम वित्तु।
 इह तिरियलोइ मयसंकडिल्लि।
 खरकिरणकरावलिभूरिभरहें।
 णं धरणिण् धरियउ दिव्ववेसु।
 णं कामिणिकुलइं सविब्भमाइं।
 जहिं णीलणेत्तणिद्धइं तणाइं।
 णं महिकामिणिवजोव्वणाइं।
 जहिं महुरइं णं सुकयहो फलाइं।
 जहिं सुहि णिसण्ण गोमहिसिसंड।
 णं पवणवसेण पणच्चिराइं।
 जहिं दीसइ सयदलु सदलु सालि।
 गहवइसुयाहि पडिवयणु भणइ।
 पहि पउ ण दिण्णु पंधियजणेण।
 गोवालगेयरंजियमणेण।
 पुर णयर सुसीमाराम साम।

जसहरचरिउ 1.3

अब मैं विचित्र वृत्तान्त से युक्त जो जैसा घटा वैसा यशोधर नरेश के चरित्र का वर्णन करता हूँ। अनेक द्वीपों और महासमुद्रों से मण्डित तथा प्राणियों से भरपूर इस तिर्यग्लोक में विस्तीर्ण जम्बूद्वीप है, उसमें सूर्य की उष्ण किरण-पुंज से पूरित भरत क्षेत्र है और उसमें यौधेय नाम का देश है मानो धरा ने दिव्य वेष धारण किया हो। वहाँ नदियों में भौरें पड़ता हुआ जल ऐसा प्रवाहित होता था जैसे कामिनियों के समूह हाव-भाव-विभ्रम दिखाते हुए चल रहे हों। वहाँ नीले बन्धनों से युक्त घास के पूले भृंगों-सहित ऐसे थे जैसे नील नेत्रों से प्रेम की सूचना देनेवाली कामुक स्त्रियों के वर्णन से युक्त कुकवियों की कविताएँ हों। वहाँ के उपवन पुष्पों और फलों से परिपूर्ण थे मानो महीरूपी कामिनी का नया यौवन ही हो। ग्वालों के मुखों से चूसे गये फल ऐसे मधुर थे जैसे सत्कर्मों के फल। वहाँ गायों और भैंसों के झुण्ड सुख से बैठे धीरे-धीरे रोमन्थण में गाल चलाते हुए दिखाई देते थे। वहाँ गन्ने के खेत अपना रस दिखलाते हुए मानो पवन के वेग से नाच रहे थे। वहाँ की पकी धान कणों के भार से झुक रही थी, तथा शतदल कमल भौरों से युक्त दिखाई देते थे। वहाँ शुकों के झुण्ड धान के कण चुनते एवं खेतों को रखानेवाली गृहस्थों की कन्याओं को प्रत्युत्तर दे रहे थे। छुछकारने की ध्वनि से मनोरंजन करनेवाले पथिकजन मार्ग में पैर आगे बढ़ा ही नहीं पाते थे। वहाँ ग्वालों के गीतों से मनोमुग्ध होकर वन में मृगसमूह कान देकर सुनने में मग्न हो जाते थे। वहाँ के ग्राम, पुर और नगर, जन, धन और धान्य से परिपूर्ण थे, एवं उद्यान अपनी-अपनी सीमाओं में हरे-भरे थे।

ऐसे उस यौधेय देश में राजपुर नामक मनोहर नगर था जहाँ के घर रत्नों के संचय से पूर्ण थे तथा जो अपने पवन के वेग से चलायमान तथा आकाशतल में मिलते-घुलते ध्वजों से मानों अपनी भुजाओं द्वारा स्वर्ग को छूता हुआ दिखाई देता था।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

कवि अद्दहमाण कृत 'संदेश-रासक'

— श्री वेदप्रकाश गर्ग



कवि अद्दहमाण¹ द्वारा रचित 'संदेश-रासक' तीन प्रक्रमों में विभक्त 223 छंदों का प्रबन्धात्मक रूप में एक सुन्दर जैनेतर खण्ड-काव्य है। छंद-योजना की दृष्टि से उक्त छंद 22 प्रकार के हैं। इस काव्य की विशेषता यह है कि इसके छंद एक ओर तो मुक्तक के गुणों से युक्त हैं और दूसरी ओर वे कथा-सूत्र में भी ग्रथित हैं। रासक या रासो शैली की यह रचना एक दूत काव्य है।² इसमें 'संदेश' शब्द से विषय का बोध होता है और 'रासक' काव्य-रूप का परिचायक है। 'रासक'³ एक छंद का भी नाम है और यह इस रचना का मुख्य छंद है। इस कृति का लगभग एक-तिहाई भाग रासक छंद में ही लिखा गया है। वैसे इसमें छंद-वैविध्य है और अडिल्ल, दोहा, रड्डा, पद्धड़िया आदि विभिन्न छंदों⁴ का प्रयोग हुआ है। संभवतः इसकी रचना पठन-पाठन हेतु हुई थी, किन्तु इसकी गेयता से भी इंकार नहीं किया जा सकता। आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने इसे मसृणोद्धत ढंग का ज्ञेय रूपक माना है⁵। रासक में गेय तत्व की प्रधानता हो जाने पर कथा तत्व का आ जाना स्वाभाविक ही था⁶। अतः गीतात्मक कलेवर में यह एक सुंदर रचना है। इसमें एक कल्पित कथा का आधार लिया गया है। विषय की दृष्टि से 'संदेश-काव्य' में प्रवास-जनित विरह का वर्णन है, किन्तु कथा सुखान्त है और आदि-अंत में आशिष-कथन है। इसमें स्वकीया के प्रेम का विकास किया गया है। विजय नगर की एक सुन्दरी अपने प्रवासी पति के विरह में व्याकुल होकर एक पथिक से संदेश भेजती है। 'संदेश-रासक' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है -

‘विजय नगर (राजस्थान) में एक विरहिणी है जिसका पति प्रवास में खम्भात गया हुआ है। बहुत दिनों के अनन्तर भी वह लौटा नहीं है। इसलिए वह एक पथिक से, जो मूल-स्थान (मुलतान) से अपने स्वामी का गोपनीय लेख लेकर खम्भात जा रहा है, अपना प्रेम-संदेश भेजना चाहती है। पथिक ज्यों ही उसका संदेश लेकर चलने को प्रस्तुत होता है वह कुछ और कहने लगती है। ऐसा कई बार होता है। यहाँ तक कि जब पथिक चलने को उद्यत होता है और उससे पूछता है कि और कुछ तो नहीं कहना है, तो वह रो पड़ती है। पथिक उसको सांत्वना देता है और संयोगवश पूछ बैठता है कि उसका पति किस ऋतु में प्रवास के लिए गया था? वह कहती है कि ग्रीष्म में और इसके अनन्तर वह छहों ऋतुओं एवं बारहों महीनों के अपने विरह-जनित कष्ट का वर्णन करती है। इसके अनन्तर पथिक उससे विदा लेकर जैसे ही प्रस्थान के लिए प्रस्तुत होता है और नायिका भी पथिक को मंगल-यात्रा हेतु विदा करके ज्यों ही दक्षिण-दिशा की ओर मुड़ती है, तो उसे प्रवास से लौटता हुआ पति दिखायी पड़ता है और नायक-नायिका का पुनः मिलन होता है। यहीं काव्य की सुखमय समाप्ति होती है।’

इस प्रकार इसमें प्रोषित पतिका का विरह-निवेदन और अन्त में उसका संयोग वर्णित है। अतः इसे संयोगांत विरह-काव्य कहा जा सकता है। यह नायिका-प्रधान रचना है क्योंकि इसमें उसी के मनोभावों की अभिव्यक्ति है। इसका अंतिम अंश बड़ा मार्मिक है। नायिका कहती है -

जइ अणक्खरु कहिउ मइ पहिय।
घण दुक्खा उन्नियह मयण अगिग विरहिणि पलित्तिहि,
तं फरसउ मिल्हि तुहु विणियमग्गिपभणिज्जमत्तिहि।

अर्थात् हे पथिक, यदि विरह-पीड़िता, कामाकुला मैंने कुछ अकथ्य कहा हो तो उसे सुधार कर कहना। अंत में नायक के आगमन की सूचनामात्र है और कवि ने नायक-नायिका के सुख-मिलन का वर्णन न कर यहीं कथा समाप्त कर दी है।

संदेश-रासक की कहानी बहुत सरल, किन्तु मर्मस्पर्शी है। यह महत्वपूर्ण विरह-काव्य है। विरह-पक्ष को साकार करने के लिए हृदय की मर्मवेदना के द्वारा वातावरण तैयार किया गया है। इसमें विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है। इसके दूसरे प्रक्रम में नायिका और तीसरे में प्रकृति का वर्णन है, किन्तु दोनों का वर्णन इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि विरहिणी नायिका को हम क्षणभर भी नहीं भुला सकते। कवि की काव्य-कुशलता का वर्णन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं⁸ कि कवि प्राकृतिक दृश्यों का चित्र इस कुशलता से अंकित करता है कि इससे विरहिणी के विरहाकुल हृदय की मर्मवेदना मुखरित हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्म-वेदना की ही होती है।

इस रचना का षड्ऋतु-वर्णन रीतिकालीन ऋतुवर्णन के समान है। इसमें नख-शिख वर्णन भी मिलता है, जो विशुद्ध प्रेम-शृंगार की भावना से ओतप्रोत है। प्रकृति के समस्त पदार्थ विरहिणी के हृदय में वियोग-व्यथा को द्विगुणित करते हैं। कवि का प्रत्येक वर्णन विप्रलम्भ-शृंगार रस

की परिपुष्टि करता है। यह ऋतु-वर्णन मिलन-जन्य आनन्द में उद्दीपन का संचार करता है। विरह-काव्य की दृष्टि से संदेश-रासक का अपभ्रंश-साहित्य में ही नहीं, अपितु सारे हिन्दी-साहित्य में भी अपना विशेष महत्व है। अत्यन्त क्षीण कथानक पर कवि ने विरह का जो वितान खड़ा किया, वह अद्भुत है। उक्त कथावस्तु से सामान्य रूप में हम संदेश-रासक की रमणीयता का आभास प्राप्त कर सकते हैं। कवि ने परम्परा-प्रचलित उपमानों के माध्यम से सौन्दर्य की अभिव्यंजना में सफलता प्राप्त की है। कवि का छंद, अलंकार एवं भाषा पर ही नहीं, मनोभावों पर भी पूर्ण अधिकार है। इस रचना में तत्कालीन जीवन की अच्छी झाँकी है।

संदेश-रासक की भाषा अपभ्रंश है, जिसे शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप नागर अपभ्रंश कह सकते हैं। स्वयं कवि ने अपनी इस रचना की भाषा को न अधिक पंडितों और न मूर्खों की बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए लिखी भाषा बताया है।⁹ अर्थात् वह बोल-चाल की भाषा में है। इसे ही अवहट्ट नाम दिया गया है, जो ग्राम्यापभ्रंश का ही जन-प्रचलित रूप है।¹⁰ वास्तव में कृति में इसका वह परवर्ती रूप विद्यमान है जो अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कड़ी है। अतः अवहट्ट भाषा का यह प्रायः सबसे प्राचीन उपलब्ध धर्मेतर-काव्य है। संस्कृत काव्यों में जो स्थान मेघदूत का है वही अपभ्रंश-काव्यों में इस रचना को प्रदान कर सकते हैं।

प्रेम-भावनाजनित कथानक के आधार पर रचित लघु-दीर्घकाय प्रबंधों में 'संदेश-रासक' का नाम सर्वप्रथम आता है। यह एक विरह-प्रधान काव्य है जिसमें लौकिक प्रेम की बड़ी सहज एवं सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। इसमें प्रेम का बड़ा मार्मिक एवं संवेद्य स्वरूप का चित्रण है। प्रसंगानुसार इसमें विरह वर्णन के अलावा बसंत-ऋतु और नारी-शोभा तथा मानवीय संवेदनशीलता का भी भावुक चित्रण हुआ है। इसमें पथिक विरहिणी को अनेक प्रकार से आश्वासन देता है और जब वह विरहिणी को समझा रहा होता है, उसी समय उसका पति आता दीख गया और काव्य का चमत्कारिक ढंग से उपसंहार हो गया। अंत में सभी के कल्याण की कामना की गई है। सबके जीवन को सुखी बनाने का संदेश निहित है।¹¹ वस्तुतः 'रासक' की मूल संवेदना प्रेम एवं श्रृंगारपरक है। विरह-वर्णन, वस्तु-वर्णन, भाषा-प्रयोग, प्रकृति-वर्णन एवं रसोद्रेक की दृष्टि से इसकी बहुशः प्रशंसा की जा सकती है।

रासक-काव्य-रूप की विशेषताओं से संकलित यह 'संदेश-रासक' एक छोटा-सा सुन्दर विरह-काव्य है, जिसमें कथावस्तु का कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि इसमें कथातत्त्व तो अत्यल्प है। इसलिए इस रासक की विशेषता उसके कथानक में नहीं, अपितु उसकी अभिव्यक्ति एवं कथन-शैली में है। कवि ने लोक-जीवन से उद्भूत स्वछंद एवं अकृत्रिम कथा के आधार पर अपने लौकिक प्रेम-गाथात्मक इस काव्य की रचना की है। यद्यपि बड़ा काव्य न होने के कारण कवि को छोटी-छोटी बातों का विशद वर्णन करने का अवसर नहीं था, फिर भी जिस मार्मिकता, संयम और सहृदयता का परिचय कवि ने दिया है, वह उसकी कवित्व-शक्ति, पांडित्य, परम्परा-ज्ञान और लोकवादिता को स्पष्टतया बताने में समर्थ है। काव्य में साधारणतः शिल्प शब्दों की योजना ही इसका कौशल है।

कवि अद्दहमाण प्रतिभासम्पन्न, बहुज्ञ एवं सहृदय कवि था। वह संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाओं का ज्ञाता था। साथ ही वह विनयी एवं मानी कवि था। कवि ने स्वयं ग्रन्थ की विशेषताओं के माध्यम से रचना के मूल विषय एवं रस को बताते हुए स्पष्ट कर दिया है कि ग्रंथ शृंगारपरक काव्य है। अंत में कवि के शब्दों में ही संदेश-रासक - “अनुरागियों का रतिगृह, कामियों का मन हरनेवाला, काम में प्रवृत्तजनों के पथ का प्रकाशक, विरहिणियों के लिए मकरध्वज और रसिकों के लिए शुद्ध रस संजीवनकारी है” (1.22)।

अतः यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि संदेश-रासक लौकिक प्रेमभावना को व्यक्त करनेवाला शृंगार-प्रधान रासक-काव्यों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है और अपभ्रंश के श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ-रत्नों में उसका महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है।

1. अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) के संबंध में देखिए - ‘अपभ्रंश भारती’ अंक 9-10 में प्रकाशित मेरा ‘संदेश-रासक के रचयिता अब्दुर्रहमान’ शीर्षक लेख, जिसमें कवि के जीवन-तथ्यों के संबंध में अनेक नवीन उद्भावनाएँ की गई हैं। कवि का समय विक्रम की 11वीं शती का पूर्वार्द्ध होने से यही समय ‘संदेशरासक’ के रचे जाने का है।
2. दूत-काव्य या संदेश-काव्य की परम्परा भी अति प्राचीन है। इसमें मेघदूत अग्रगण्य है। इस विद्या की नेमिदत्त, पवनदूत, शक-संदेश आदि कई जैन रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। दूत काव्य वास्तव में ‘विरहणा विप्रलंभ शृंगार’ की पृष्ठभूमि लेकर लिखे गए हैं।
3. ‘रासक’ वस्तुतः एक विशेष प्रकार का मनोरंजन या खेल है। यह 21 मात्राओं का छंद है। इसकी अन्तिम मात्रा लघु होती है। इसे आभाणक (आहाणउ) भी कहते हैं। वस्तुतः ये दोनों एक ही हैं।
4. छंदों के विवेचन के लिए द्रष्टव्य है - ‘संदेश-रासक’ (त्रिपाठी संस्करण) पृ. 102-113।
5. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 60, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1952।
6. कवि ने ‘रासक’ के विषय में मूलस्थान (मुलतान) का वर्णन करते हुए स्वयं संकेत किया है - ‘कह बहु रुवि णिवद्धउ रासउ भासियइ’ अर्थात् कहीं पर वहाँ विविध रूपों से निबद्ध रासक पढ़े जाते हैं। (2.43)।
7. इस संदेश-कथन के बीच रचना में नायिका की एक उक्ति आती है, जो केशव जैसे महाकवि की रचनाओं से मिलती है -
‘संदेशडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ।
जो कालंगुलि मूंदडउ से बाँहडी समाइ॥’ (2.81) छंद सं. 80 भी द्रष्टव्य है।

8. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ. 84।
9. 'जिण मुक्खण पंडिय मज्झपार, तिहपुरउ पढिक्खउसव्वपार।
10. भाषा के संबंध में देखिए - हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ. 45, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।
11. 'जेम अचिन्तिउ ऊज्जा तसु, सिद्ध खणद्धिमहन्तु।
तेय पढन्त सुणन्त यह, जयउ अणइ अणन्तु ॥'

अर्थात् 'उस विरहिणी की कामना जिस प्रकार अप्रत्याशित रूप से छिनभर में ही सिद्ध हो गई। उसी प्रकार इस काव्य के पढ़नेवालों की भी पूरी हो - अनादि-अनन्त देवता की जय हो।'

संदेश-रासक की फलश्रुति को ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने इसे भी जैन-पथानुगामी बताया है, किन्तु यह उचित नहीं है। यह काव्य तो शुद्ध श्रृंगारिक है, जो अत्यन्त सरस एवं मार्मिक है।

14, खटीकान, मुजफ्फरनगर,

उ.प्र. 251002

जहिं सव्वइं दिव्वइं माणुसाइं

जं छण्णउ सरसहिं उववणेहिं
 कयसद्दहिं कण्णसुहावएहिं
 गयवरदाणोल्लिय वाहियालि
 सरहंसइं जहिं णेउररवेण
 जं णिवभुयासिवरणिम्मलेण
 पडिखलियवइरितोमरझसेण
 णं वेढिउ बहुसोहगभारु
 जहिं विलुलियमरगयतोरणाइं
 जहिं धवलमंगलुच्छवसराइं
 णवकुं कुमरसछडयारुणाइं
 गुरुदेवपायपंकयवसाइं
 सिरिमंतइं संतइं सुत्थियाइं
 जहिं णिच्च विजयदुंदुहिणिणाउ

णं विद्धउ वम्महमग्गणेहिं ।
 कणइ व सुरहरपारावएहिं ।
 जहिं सोहइ णं पवसियपियालि ।
 मउ चिक्कमंति जुवईपहेण ।
 अण्णु वि दुग्गउ परिहाजलेण ।
 पंडुरपायारि णं जसेण ।
 णं पुंजीकयसंसारसारु ।
 चउदारइं णं पउराणणाइं ।
 दुतिपंचसत्तभोमइं घराइं ।
 विक्खित्तदित्तमोत्तियकणाइं ।
 जहिं सव्वइं दिव्वइं माणुसाइं ।
 जहिं कहिं मि ण दीसहिं दुत्थियाइं ।
 तहिं मारिदत्तु णामेण राउ ।

जसहरचरिउ 1.4

वह राजपुर नगर सरस उपवनो से आच्छादित होता हुआ मानो कामदेव के सरस बाणों से विद्ध था। देवालियों में वास करनेवाले पारावतों की कर्ण-मनोहर ध्वनियों के बहाने मानो वह पुर गा रहा था। नगर का बाहरी मैदान श्रेष्ठ हाथियों के मद से गीला हुआ ऐसा शोभायमान था जैसे मानो प्रवासी प्रेमियों की प्रियाओं की पंक्ति। वहाँ के सरोवरों के हंस युवती स्त्रियों के नूपुरों की ध्वनि से आकृष्ट होकर उन्हीं के मार्ग का धीरे-धीरे अनुगमन कर रहे थे। वह पुर यथार्थतः तो वहाँ के नरेश के भुजारूपी खड्ग से सुरक्षित था, तथा गौणरूप से दुर्ग की परिखा द्वारा। आक्रमणकारी वैरियों के मुद्गरों और भालों को कुण्ठित करनेवाले श्वेत कोट से घिरा हुआ दुर्ग मानो अपने स्वामी के यश से वेष्टित था। सौभाग्य की समस्त सामग्री से भरपूर वह नगर मानो संसारभर की सार वस्तुओं का पुंज ही था। कोट के चारों द्वार डोलते हुए मरकत मणियों के तोरणों से ऐसे शोभायमान थे, जैसे मणिमय हारों से युक्त पुरवासियों के मुख। वहाँ दो, तीन, पाँच व सात मंजिलों के घर धवल मंगल व उत्सवों के स्वरों से गूँज रहे थे। वहाँ नये केसर रस के लेप से लाल, धारण की हुई मोतियों की मालाओं से देदीप्यमान, गुरु और देव के चरण-कमलों के भक्त, श्रीमन्त, शान्त और स्वस्थ सभी मनुष्य देवों के समान थे। वहाँ कहीं भी दुःखी मनुष्य दिखाई नहीं देते थे। वहाँ मारिदत्त नाम का राजा था जिसकी विजय दुन्दुभी का नाद नित्य सुनाई पड़ता था।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

‘संदेश-रासक’ में अप्रस्तुतविधान

— डॉ. बहादुर मिश्र

अब्दुल रहमान-कृत ‘संदेश-रासक’ में प्रयुक्त अप्रस्तुतविधान की विचिकित्सा करने के पूर्व अप्रस्तुतविधान के प्रचलित काव्य-रूपों पर विहंगम दृष्टि डालना अप्रासंगिक नहीं होगा।

हिन्दी काव्य में अप्रस्तुतविधान के तीन रूप प्रचलित हैं - (1) मूर्त विधान, (2) अमूर्त विधान तथा (3) मूर्तामूर्त विधान।

1. मूर्त विधान

मूर्त अथवा अमूर्त प्रस्तुत (उपमेय) को अधिकाधिक स्पष्ट करने एवं काव्यानुभूति को संवेद्य बनाने के उद्देश्य से जब कोई कवि मूर्त अप्रस्तुत (उपमान) का विधान करता है तब उसे मूर्त विधान कहते हैं। इसे मूर्तीकरण, स्थूल विधान और वस्तु विधान भी कहते हैं।

चूँकि, अप्रस्तुतविधान का यह रूप वस्तुवादी दृष्टिकोण पर आधारित है; फलस्वरूप, इसमें इतिवृत्तात्मकता आ जाती है। यद्यपि इससे बिम्ब-ग्रहण कराने में सहायता मिलती है, तथापि यह अप्रस्तुतविधान का स्थूलतम प्रकार माना गया है।

प्रचलन के आधार पर मूर्त विधान के दो भेद किये जा सकते हैं - (क) मूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुतविधान तथा (ख) अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुतविधान।

2. अमूर्त विधान

मूर्त अथवा अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत का प्रयोग होने पर अमूर्त विधान होता है उसे अमूर्तीकरण, सूक्ष्म-विधान और भाव-विधान भी कहते हैं।

अप्रस्तुतविधान का यह रूप भाववादी दृष्टिकोण पर आधारित है। 'इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना का प्रमुख प्रयोजन प्रतिपाद्य वस्तु को रूपायित करना अथवा इसके स्वरूप को संवेद्य करना इतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना कि उसके सामूहिक प्रभाव के आन्तरिक सूक्ष्म सौन्दर्यबोध का उन्नयन करके संवेद्य बनाना।'

प्रवचन के आधार पर इसके भी दो भेद हैं - (क) मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत तथा (ख) अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत।

3. मूर्तामूर्त विधान

जहाँ मूर्त या अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त और अमूर्त - दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों का प्रयोग हो, वहाँ मूर्तामूर्त विधान होता है। इसे मूर्तामूर्तीकरण, स्थूल-सूक्ष्म-विधान और वस्तु-भाव-विधान भी कहते हैं।

अप्रस्तुतविधान का यह रूप अपेक्षाकृत विशिष्ट और जटिल होता है, क्योंकि यह वस्तु एवं भाव के मीलित दृष्टिकोण पर आधारित है। एतदर्थ, प्रयोक्ता (कवि) को ऐसे अप्रस्तुतविधान करते समय अपेक्षाकृत अधिक निपुणता दिखानी पड़ती है, अन्यथा दूरारुढ़ता का खतरा सदैव बना रहता है।

मूर्तामूर्त विधान के भी दो भेद किये जा सकते हैं - (क) मूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त और अमूर्त अप्रस्तुत तथा (ख) अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त और अमूर्त अप्रस्तुत।

एवंविध, अप्रस्तुतविधान के कुल छह रूप हिन्दी काव्य में प्रचलित हैं। मगर, कोई-कोई विद्वान इसके चार ही रूप मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में - "अलंकार में वस्तु-विधान और भाव-विधान से अभिप्राय वस्तु के इतिवृत्तात्मक वर्णन और गुण या धर्म की भाव-योजना से है। जहाँ स्थूल का वर्णन किया जाता है, वहाँ भाव-विधान समझना चाहिए। इसी का नाम मूर्त विधान और सूक्ष्म विधान है। वस्तु-विधान में सादृश्य की प्रधानता रहती है। इसलिए, अप्रस्तुत योजना में बिम्ब-ग्रहण कराना होता है और भाव-विधान में साधर्म्य प्रधान होता है, इसलिए भाव की तीव्रता ही अभीष्ट होती है। मुख का कमल के साथ सादृश्य स्थिर करने में हम वस्तु-विधान द्वारा अप्रस्तुत की योजना करते हैं, किन्तु किसी बालिका के सरल शैशव की स्थिति के समान कहने में भाव-विधान द्वारा अप्रस्तुत की योजना की जाती है। इसतरह, वस्तु का वस्तु द्वारा, भाव का भाव द्वारा, भाव का वस्तु द्वारा और वस्तु का भाव द्वारा - इन चार प्रकारों से अप्रस्तुतयोजना की जाती है।"

संदेश-रासककार ने अप्रस्तुतविधान के कुल छह रूपों में से ये ही चार रूप प्रयुक्त किये हैं।

(1) मूर्त्त के लिए मूर्त्त-विधान/वस्तु का वस्तु द्वारा

इसके अन्तर्गत कवि ने मुख्यतः अलंकारमूलक, उसमें भी साम्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना की है। साम्यमूलक अप्रस्तुतयोजना के तीन रूप प्रचलित हैं; यथा - (क) सादृश्यमूलक, (ख) साधर्म्यमूलक, (ग) प्रभाव-साम्यमूलक। संदेश-रासककार अब्दुल रहमान ने उपरिलिखित तीनों साम्यमूलक अप्रस्तुतों का विधान किया है। इनका क्रमिक विवरण निम्नांकित है -

(क) सादृश्यमूलक

अध्ययन की सुविधा के लिए इसके दो भेद किये जा सकते हैं - (अ) आकृतिसाम्याश्रित तथा (आ) वर्ण-साम्याश्रित।

(अ) आकृति-साम्याश्रित

संदेश-रासककार ने रमणी के शरीर के विविध अंगों से आकृति-साम्य (रूपसाम्य) दिखाने के लिए बहुविध परंपरित और अपरंपरित अप्रस्तुतों की योजना की है। ये अप्रस्तुत मुख्यतः प्रकृति-जगत् से आगत हैं और सभी मूर्त्त हैं। उदाहरणार्थ - नायिका के अमृत-स्नावी मुख के लिए पूर्ण चन्द्र³ -

सुपुण्ण सोमो य/अकलंक माइं, वयणं;

लहरदार अलकों के लिए सलिल-कल्लोल⁴ -

विविहतरंगिणिसु सलिलकल्लोलाअलया;

रागयुक्त लोचन-द्वय के लिए अरविन्द-दल⁵ -

लोचनजुयं च णज्जइ रविंदल दीहरं च राइल्लं;

बाहु-युगल के लिए मानसरोवर में उत्पन्न मृणाल (नाल) तथा बाहुओं के अंतिम छोरों पर लगे हाथों के लिए द्विधाभूत कमल⁶ -

कोमल मुणालणलयं अमरसरूपन्न बाहुजुयलं से।

ताणंते करकमलंणज्जइं दोहाइयं पउमं;

कटि के लिए भिड़ (बरें)⁷ -

विरूडलविक;

नाभिमंडल के लिए पर्वतीय नदी का आवर्त्त⁸ -

गिरिणई सम आवत्तं जोइज्जइं णाहिमंडलं गुहिरं;

उरू-युगल के लिए कदलीस्तंभ⁹ -

जालंधरि थंभ जिया उरू रेहंति तासु अइरम्मा;

पैरों की उँगलियों के लिए पद्मराजि तथा रोमावली के लिए कुसुम-नाल¹⁰ -

रेहंति पउमराइं व चलणंगुलि फलिहकुट्टि णहपंती।

तुच्छं रोमतरंगं उबिन्नं कुसुमनलएसु;

भू-युगल के लिए अनंग-धनु¹¹ -

भमहजुयल सन्नद्धउ कस्सव भाइयइ

णाई कोइ कोयंडू अणंगि चडाइयइ, इत्यादि।

उपरिलिखित उदाहरणों में प्रयुक्त प्रायः सारे अप्रस्तुत परंपरागत हैं। रमणी की कटि के लिए भिड़ (बर्रे) अप्रस्तुत का प्रयोग किंचित् नवीनता की प्रतीति कराता है। कमर की क्षीणता को रेखांकित करने के लिए 'सिंह' का अप्रस्तुत-रूप में प्रयोग जितना परंपरित है, मेरी जानकारी में, 'बर्रे' का प्रयोग उतना परंपरित प्रतीत नहीं होता।

जो हो, आकृति-साम्याश्रित सादृश्यमूलक मूर्त-विधान का जो ठाठ यहाँ खड़ा किया गया है वह उपमा, उत्प्रेक्षा आदि साम्यमूलक अलंकारों के सहारे ही।

(आ) वर्ण-साम्याश्रित

'संदेश-रासक' में आकृति-साम्याश्रित अप्रस्तुतविधान की तुलना में वर्ण-साम्याश्रित अप्रस्तुत विधान अल्प है। किन्तु, संतोष की बात यह है कि ये प्रयोग परंपरित होते हुए भी समीचीन और आह्लादकारी हैं। उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

संदेश-रासककार ने साम्बपुर की कामिनी (स्त्री) की दंत-पंक्ति (मूर्त प्रस्तुत) की उज्ज्वलता दिखाने के लिए जहाँ हीर-पंक्ति (मूर्त अप्रस्तुत) का प्रयोग किया है; यथा - हीरपंति सारिच्छ डसण¹² वहाँ मूर्त प्रस्तुत - 'कपोलों' की लालिमा दिखाने के लिए मूर्त अप्रस्तुत 'दाडिम कुसुम-पुंज' का प्रयोग किया है; जैसे -

अवर कवोल कलिज्जहि दाडिमकुसुमदल।¹³

एक ओर कवि ने नायिका के काले बालों (मूर्त प्रस्तुत) के लिए अलिकुल-माता (मूर्त अप्रस्तुत)¹⁴ - किसणत्तणमि अलया अलिउलमालव्व रेहंति का प्रयोग किया है तो दूसरी ओर उज्ज्वल पद-नख-पंक्ति (मूर्त प्रस्तुत) के लिए स्फटिक खंड (मूर्त अप्रस्तुत) का प्रयोग किया है; यथा - फलिहकुट्टि गहपंती।¹⁵

तृतीय प्रक्रम के 'शरद-वर्णन' में कवि ने रंग-साम्य दिखाने के लिए 'सफेद बालोंवाले सरोवर-तट' (मूर्त प्रस्तुत) हेतु 'सफेद शंख' (मूर्त अप्रस्तुत) का प्रयोग किया है; यथा -

धवलिय धवल संख संकासिहि, णिम्मलनीर सरिहिं पवहंतिहिं।¹⁶

'शरद-वर्णन' में ही एक स्थल पर कवि ने 'स्त्रियों के शीश भाग' (मूर्त प्रस्तुत) के लिए 'घने काले रंगवाले गोपुर' (मूर्त अप्रस्तुत) तथा 'शीश पर स्थित कुसुम' का प्रयोग करते हुए वर्ण-साम्याश्रित अप्रस्तुतविधान का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है।

(इ) आकृति-वर्ण-साम्याश्रित

एक स्थल पर कवि ने आकृति और वर्ण के युगपद् साम्य पर आधारित मूर्त विधान किया है; यथा -

छायंती कह कहव सलज्जिर णियकरिहि, कणयकलस झंपंती णं इंदीवरिहिं।¹⁷

अर्थात् जब वियोगिनी नायिका पथिक को अपना संदेश सुनाने के लिए उतावली होकर बढ़ी ही थी कि उसकी रेशमी चोली मसक गयी। फलस्वरूप, उसके स्तन कुछ-कुछ दिखायी पड़ने

लगे। उस लज्जावती ने जैसे-जैसे अपने स्तनों को हाथों से आवृत्त कर लिया, मानो दो कमलों ने स्वर्ण-कलश-युगल को ढँक लिया हो।

स्वर्णाभा लिये गोरे स्तनों (मूर्त्त प्रस्तुत) के लिए 'स्वर्ण कलश' (मूर्त्त अप्रस्तुत) तथा 'गोरे हाथों' (मूर्त्त प्रस्तुत) के लिए 'कमल' (मूर्त्त अप्रस्तुत) के प्रयोग में जहाँ आकृति-साम्य (स्तन तथा कलश दोनों गोलाकार होते हैं) है, वहाँ रंग-साम्य (गुराई) भी।

इसतरह, सादृश्यमूलक अप्रस्तुतविधान में न केवल वैविध्य है बल्कि सटीकता भी।

(ख) साधर्म्यमूलक

इससे भी दो भेद किये जा सकते हैं - (अ) गुण-साम्यमूलक तथा (आ) क्रिया/व्यापार-साम्यमूलक।

(अ) गुण-साम्यमूलक

संदेश-रासककार ने नायिका के कुटिल अलकों (मूर्त्त प्रस्तुत) के लिए 'पिशुनजन' अर्थात् चुगलखोर (मूर्त्त अप्रस्तुत) का प्रयोग किया है; जैसे - अञ्जकुडिल माई पिहुणा..... अलया ॥¹⁸

प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के बीच साम्य का आधार कुटिलता है। जिस तरह चुगलखोर व्यक्ति का सामान्य धर्म उसकी कुटिलता है, उसीतरह नायिका के मस्तक के बाल कुटिलता के कारण ही शोभा और प्रशंसा पाते हैं।

अलकों के लिए 'पिशुन' का प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है। यह कवि की मौलिक कल्पना-क्षमता का प्रमाण है।

इसीतरह नायिका के स्तन-द्वय (मूर्त्त प्रस्तुत) के लिए क्रमशः 'सुजन' और 'खल' (मूर्त्त अप्रस्तुत) का औपम्य-विधान हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है -

सिहणा सुयण-खला इव थड्ढा निच्चुनया य मुहरहिया।¹⁹

संयोग-बेला में ये स्तन 'सुजन' (सज्जन) की तरह सुखद प्रतीत होते हैं, जबकि वियोग-काल में 'खल' (दुष्ट) की तरह दुःखद।

सुखदता तथा दुःखदता - ये दोनों गुण यहाँ अप्रस्तुतविधान के आधार बने हैं। रमणी की आँखों (मूर्त्त प्रस्तुत) के लिए 'मृग' (अमूर्त्त अप्रस्तुत)²⁰ का प्रयोगकर कवि ने प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत - दोनों के धर्म विशेष 'चंचलता' की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। पुनः उसे राजमरालगामिनी तथा हंसगामिनी²¹ बताकर कवि ने दोनों के धर्म - 'मंथर गति' को साम्य का आधार बनाया है।

(आ) क्रिया-साम्यमूलक

द्वितीय प्रक्रम के 83वें छन्द में कवि ने काम-विद्ध नायिका की तुलना शिकारी के बाणों से विद्ध 'हिरणी' से की है; यथा -

वयण णिसुणेवि मणमत्थसरवद्धिया, मयउसरमुक्क णं हरिणि उत्तट्ठया।²²

यहाँ साम्य का आधार व्यापार-विशेष - तड़पना या छटपटाना है।

इसी तरह एक अन्य छन्द में कवि ने नायिका की तुलना ऐसी खच्चरी (पशु विशेष) से की है, जो गयी तो थी सींगों के लिए, परन्तु खोकर आयी अपने कान भी; यथा -

**मई दिन्नु हियउ णहु पिउ हुई उवम इहु कहु कवण।
सिंगत्थि गइय वाडव्वणी पिक्ख हराविय णिअ सवण।²³**

वियोगिनी ने प्रिय को बुलाने के लिए मनोदूत भेजा था। प्रिय तो नहीं ही आया, दूत भी वहाँ रह गया। प्रिय की वापसी सींग-प्राप्ति के समान है, जबकि दूत का वहीं रहजाना कान खोने के समान; क्योंकि, वह जो संदेश लानेवाला था उसे सुनकर कानों को सुख मिलता। व्यापार-साम्य को यहाँ तुलना का आधार बनाया गया है। अतः यह व्यापार-साम्याप्रित साधर्म्यमूलक अप्रस्तुतविधान (मूर्त्तविधान) का उदाहरण है।

(ग) प्रभाव-साम्याश्रित

प्रभाव-साम्याश्रित मूर्त्त अप्रस्तुतविधान का प्रयोग अपेक्षाकृत क्लेशकर होता है। फिर भी, संदेश-रासककार ने दो प्रयोग किये हैं - पहला, द्वितीय प्रक्रम के 31वें छन्द में और दूसरा, तृतीय प्रक्रम के ग्रीष्म-वर्णन में। उदाहरण निम्नांकित हैं -

(i) **कुसुमसराउह रूवणिहि विहि णिम्मविय गरिट्ठा
तं पिक्खेविणु पहिय णिहि गाहा भणिया अट्ठ।²⁴**

अर्थात् कामदेव के साक्षात् बाण की तरह, रूप-निधि तथा विधाता की उत्तम कृति उस सुन्दरी को देखकर पथिक ने आठ गाथाएँ पढ़ीं।

इस उदाहरण में कवि ने नायिका की तुलना कामदेव के अस्त्र से की है। यहाँ साम्य का आधार न तो आकृति है, न साम्य और न ही गुण-विशेष, बल्कि प्रभाव है। जिसतरह कामदेव के पुष्प-बाण से आज तक कोई नहीं बच सका है (देवाधिदेव महादेव भी नहीं), उसीतरह नायिका के सौन्दर्य-बाण से कोई नहीं बच सकता। दोनों ही प्रभाव में समानरूप से अचूक हैं।

(ii) **जम जीहह जिम चंचलु णहयलु लहलहई।²⁵**

अर्थात् नभ-तल यमराज की चंचल जीभ के समान लहलहाता था।

आकाश-तल (मूर्त्त प्रस्तुत) और यमराज की जीभ (मूर्त्त अप्रस्तुत) के बीच न तो सादृश्यमूलकता है और न ही साधर्म्यमूलकता। यहाँ तो प्रभाव-साम्यमूलकता है। प्रभाव-साम्य को आधार मारकता (दाहकता) में देखा जा सकता है। ग्रीष्मकाल में नभ-तल उसी तरह सूर्य की मारक उष्णता बरसाता है जिसतरह यमराज की लपलपाती जीभ मौत का ताण्डव प्रस्तुत करती है।

इसतरह, कवि ने मूर्त्त-विधान के अन्तर्गत सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य - तीनों प्रकार के साम्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना की है।

(2) अमूर्त के लिए मूर्त विधान/भाव का वस्तु द्वारा

‘संदेश-रासक’ में अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुत का विधान प्रमुखता से हुआ है। इसके अन्तर्गत कहीं सादृश्य के लिए तो कहीं सामर्थ्य के लिए और कहीं-कहीं प्रभाव-साम्य के लिए मूर्त-विधान हुआ है।

(क) सादृश्यमूलक

कवि ने अमूर्त प्रस्तुत ‘देह की कांति’ के लिए दो मूर्त अप्रस्तुतों - ‘कुंकुम’ तथा ‘स्वर्ण’ का प्रयोग वर्ण-साम्य दिखाने के लिए किया है। द्रष्टव्य है - **कुंकुमकणय सरिच्छ कंति ॥**⁶

यहाँ कवि का उद्देश्य वर्ण-साम्य के माध्यम बिम्बोद्भावना है।

द्वितीय प्रक्रम में 48वें छन्द में कवि ने अमूर्त प्रस्तुत नायिका की हँसी के लिए मूर्त अप्रस्तुत सूर्य का प्रयोग किया है; यथा -

**अवर कावि सुवियक्खिण हिवसंतिय विमलि,
णं ससि सूर णिवेसियरहेइ गंडयलि ॥**⁷

यहाँ भी रंग-साम्य (हँसी तथा सूर्य - दोनों का रंग शुभ-कनकाभ माना गया है) के माध्यम से बिम्बोद्भावना हुई है।

‘संदेश-रासक’ में सादृश्यमूलक अमूर्त-मूर्त विधान के और प्रयोग लक्षित नहीं हैं।

(ख) साधर्म्यमूलक

सादृश्यमूलक की तुलना में इसके प्रयोग ‘संदेश-रासक’ में अधिक मिलते हैं; यथा - नायिका के विरहाकुल ‘हृदय’ (अमूर्त प्रस्तुत) के लिए दीपक की लौ में जलने वाले ‘पतंग’ (मूर्त अप्रस्तुत) (हियउ... पडिउ पतंगु णाउ दीवंतरि ॥²⁸) के प्रयोग के माध्यम से कवि ने व्यापार-साम्य से बिम्बोद्भावन किया है।

इसीतरह, अमूर्त प्रस्तुत ‘विरह’ के लिए मूर्त अप्रस्तुत ‘चोर’ (मह सामिय वक्खरु हरि गउ तक्खर)²⁹ हृदय (अमूर्त प्रस्तुत) के लिए ‘रत्ननिधि सागर’ (मूर्त अप्रस्तुत); (मह हिययं रयणनिही)³⁰ तथा प्रवासी पति के ‘प्रेम’ (अमूर्त प्रस्तुत) के लिए ‘गुरु मंदर’ पर्वत (मूर्त अप्रस्तुत) (महियं गुरु मंदरेण तं णिच्चं)³¹, नायिका की ‘बेचैनी’ (अमूर्त प्रस्तुत) के लिए मूर्त अप्रस्तुत ‘क्षार’ - कोयला (अणरइछारू छित्तु)³², उसके विरह के लिए क्रमशः ‘अग्नि’ (मूर्त अप्रस्तुत) तथा ‘करपत्र - आरा (विरहाणल)³³ (दुसहु विरह करवत्तिहि)³⁴, उसकी ‘गति’ (अमूर्त प्रस्तुत) के लिए हंस (मूर्त अप्रस्तुत) (हंस सरिस सरलाइ गयहि लीलंति यह)³⁵, ‘गंधवह’ - वायु (अमूर्त प्रस्तुत) के लिए मूर्त अप्रस्तुत ‘हाथी के कान’ (कुंजर-सवण सरिच्छ पहल्लिर गंधवहि)³⁶ इत्यादि प्रयोग साधर्म्यमूलक अमूर्त-मूर्त विधान के सुन्दर उदाहरण हैं।

(ग) प्रभाव-साम्यमूलक

‘संदेश-रासक’ में प्रभाव-साम्याश्रित अमूर्त-मूर्त विधान का प्रयोग नगण्य है। जो दो-चार प्रयोग मिलते हैं, उनमें द्वितीय प्रक्रम का 108वाँ छन्द इसका सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है; यथा -

सुनरह जिम गह हियउ पिय उक्किख करेई,
विरह हुआसि दहेवि करि आसाजल सिंचेई॥³⁷

अर्थात् नायिका कहती है कि सुनार की भाँति मेरा हृदय पहले तो परदेशी प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा उत्पन्न करता है; फिर, विरहानल में जलाकर आशारूपी जल से सींचता है।

इस उदाहरण में ‘हृदय’, ‘विरह’ और ‘आशा’ - तीनों अमूर्त प्रस्तुत हैं, जिनके लिए क्रमशः ‘सुनार’, ‘अनल’ तथा ‘जल’ मूर्त अप्रस्तुत प्रयुक्त हुए हैं। व्यापार-साम्य के माध्यम से प्रभाव उत्पन्न कर बिम्बोद्भावन करना कवि का अभीष्ट रहा है।

प्रभाव-साम्याश्रित अमूर्त-मूर्त विधान का दूसरा बढ़िया उदाहरण प्रथम प्रक्रम के अंतर्गत छन्द संख्या छह से सोलह के बीच कुल ग्यारह छन्दों में देखने को मिलता है। यहाँ कवि ने ‘सुकविता’ तथा ‘कुकविता’ - इन दो अमूर्त प्रस्तुतों के लिए क्रमशः चन्द्रमा और दीपक, कोयल और कौवा, वीणा और करट (ढोल), मदमत्त गज और साधारण गज, पारिजात और साधारण वृक्ष, गंगा और साधारण नदी, नलिनी और तूँबी (लौकी), विशिष्ट शास्त्रीय नर्तकी और सामान्य नर्तकी, खीर और रब्बड़ी (कन-भूसी वाली)³⁸ कुल नौ जोड़े मूर्त अप्रस्तुतों का विधान किया है।

जिसप्रकार सुकविता पाठकों या श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव डालती है, उसी प्रकार चन्द्रमा, कोयल, वीणा इत्यादि का भी प्रभाव लोगों पर पड़ता है। दूसरी तरफ कुकविता जिसतरह लोगों को या तो प्रभावित नहीं कर पाती या बुरा प्रभाव छोड़ती है, उसीतरह दीपक, कौवा, करट सामान्य गाँव की नर्तकी इत्यादि। या तो प्रभाव नहीं छोड़ पाते या गलत प्रभाव छोड़ते हैं। यह प्रस्तुतों और अप्रस्तुतों में साम्य का आधार प्रभाव है। इस वर्ग के अन्तर्गत ‘संदेश-रासक’ में ऐसे उदाहरण दृष्टिगत नहीं होते।

(3) मूर्त के लिए अमूर्त/वस्तु का भाव द्वारा

संदेश-रासककार ने इस कोटि के अन्तर्गत मात्र दो प्रयोग किये हैं। पहला प्रयोग द्वितीय प्रक्रम में नायिका के रूप-वर्णन क्रम में देखने को मिलता है, जहाँ उसकी ‘कटि’ (मूर्त प्रक्रम) की तुलना ‘मर्त्य सुख’ (अ. अप्र.) से की गयी है। द्रष्टव्य है -

मज्झं मच्चसहं भिव तुच्छं सरलग्गई हरणं।³⁹

मर्त्य (मरणशील, अर्थात् नश्वर) सुख से रमणी की कटि की तुलना के पीछे कवि का प्रयोजन कटि की सूक्ष्मता दिखाना है। इसी सूक्ष्मता के कारण वह तेजी से नहीं चल पाती। उसकी कटि के ऊपर यौवन का दुर्वह भार जो है।

दूसरा प्रयोग तृतीय प्रक्रम के अंतर्गत 'शरद-वर्णन' के 178वें छन्द में मिलता है, जहाँ कवि ने स्त्रियों के अंग-अंग में लगे 'कपूर के सांद्र लेप' (मूर्त्त प्रस्तुत) पर अमूर्त्त अप्रस्तुत कंदर्प के बाणजन्य मारक 'विष', अर्थात् काम-भाव की उत्प्रेक्षा की है। छन्द देखिए -

अंगि-अंगि घणु घुसिणु विलत्तउ,
णं कंदप्प सरिहि विसु खित्तउ।⁴⁰

संख्या की दृष्टि से भले ही मूर्त्त-अमूर्त्त विधान नगण्य हो, परन्तु प्रयोग की सहजता तथा समीचीनता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ऐसे अप्रस्तुतविधान में कवि को जटिल स्थिति का सामना करना पड़ता है। इसके लिए उर्वर कल्पना की आवश्यकता पड़ती है।

(4) अमूर्त्त के लिए अमूर्त्त/भाव का भाव द्वारा

आलोच्य काव्य-पुस्तक में प्रयुक्त मूर्त्त-अमूर्त्त-रूप की अपेक्षा अमूर्त्त-अमूर्त्तरूप परिमाणवत्ता तथा गुणवत्ता - दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। संदेश-रासककार ने कतिपय स्थलों पर इसके अच्छे प्रयोग किये हैं। उनमें एक प्रयोग 53वें छन्द में लक्षित है, जहाँ लीलापूर्वक चलती हुई रमणी के चमड़े के जूतों से निकलनेवाली मधुर ध्वनियों (अमूर्त्त प्रस्तुत) के लिए नवशरदागम पर सुनाई पड़नेवाली सारस पक्षियों की ध्वनियाँ (अमूर्त्त अप्रस्तुत) प्रयुक्त हुई हैं; यथा -

चिक्कणरउ चंबाइहिं लीलंतिय पावरु,
णवसर आगमि णज्जइ सारसिरसिउ सरू।⁴¹

दूसरा प्रयोग 120वें छन्द में मदन-काम भाव (अमूर्त्त प्रस्तुत) के लिए समीर-हवा (अमूर्त्त अप्रस्तुत) का प्रयोग हुआ है; यथा - मयण-समीर⁴²। जिस तरह हवा अमूर्त्त रूप में संचरण करती है, उसीतरह काम-भावना रमणी के शरीर में संचरण कर रही है।

तीसरा प्रयोग 171वें छन्द में शरदागम पर नव कमल-नाल खाकर कषायित शुद्ध गले से शब्द करनेवाले हंस और चक्रवाक की ध्वनियों (अमूर्त्त अप्रस्तुत) के लिए शरदश्री के नूपुर की क्षीण ध्वनि (अमूर्त्त अप्रस्तुत) का प्रयोग हुआ है; जैसे - सकसाय णवब्भिस सुद्ध गले/धयरट्ठ रहंग रसंति जले। गइ दंति चमक्करिणं पवरं/सरयासिरि णेवर झीण सरं।⁴³

कवि ने एक स्थल पर (53वाँ छन्द) पिकवथनी रमणी की पंचम ध्वनि (अमूर्त्त अप्रस्तुत) के लिए देवताओं की स्तुति में बजनेवाली तुम्बी-ध्वनि (अ.अप्र.) का प्रयोग किया है। उद्धरण देखिए -

पंचमु कहब झणंतिय झीणउ महरयरु,
णायं तुंवरि सज्जिउ, सुरपिक्खणइ सरू।⁴⁴

इसीतरह, 191वें छन्द में अमूर्त्त प्रस्तुत 'हेमंत' के लिए अमूर्त्त अप्रस्तुत 'चाम' (धूप) का प्रयोग किया है; यथा - संसोसिउ तणु हिमिण हाम।⁴⁵

208वें छन्द में विरहिन जिन की शीघ्र ज्वाला (अमूर्त अप्रस्तुत) के लिए 'वडवाग्नि की ज्वाला' (अमूर्त अप्रस्तुत) का प्रयोग हुआ है। देखिए -

पज्जलंत विरहाग्नि तिव्व झालाउलं,
मयरद्धवि गज्जंतु लहरि घण भाउलं¹⁶

एवंविध, अमूर्त-अमूर्त-विधान में कवि ने विविधता के साथ-साथ सांदर्भिकता का पूरा-पूरा ध्यान रखा है।

'संदेश-रासक' का अप्रस्तुतविधान मुख्यतः आलंकारिक है। इसकी आलंकारिकता की रक्षा के लिए कवि ने अधिकांशतः परम्परामुक्त अप्रस्तुतों (उपमानों) का अवलम्बन लिया है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनका अप्रस्तुतविधान नीरस, फलस्वरूप विकर्षक है। कवि ने उसे जहाँ अपनी स्वच्छन्द, मगर, प्रभावी कल्पना-शक्ति से ताजगी दी है, वहाँ उसे अपनी सहृदयता का संस्पर्श देकर सहज संवेद्य और मर्मस्पर्शी भी बना दिया है। उदाहरण के लिए - रमणी के अलकों के लिए पिशुन या फिर उसके सर्वांग के लिए कदली-स्तंभ का प्रयोग। बालों की कुटिलता के लिए 'पिशुन', अर्थात् चुगलखोर का प्रयोग हिन्दी साहित्य में शायद नहीं मिलता। इसीतरह 'उरूओं' के लिए 'कदली-स्तंभ' का प्रयोग तो मिलता है, परन्तु सम्पूर्ण शरीर के लिए यह प्रयोग परम्परा से हटकर है। 'कटि' की तुलना 'मर्त्य सुख' से करके कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। ये अप्रस्तुत न केवल शारीरिक सौष्ठव को उभारते हैं, बल्कि हृदय पर अनुकूल प्रभाव भी डालते हैं। इस दौरान कवि का ध्यान जहाँ सादृश्य पर रहा है, वहाँ साधर्म्य और प्रभाव-साम्य पर भी। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है - "संदेश-रासककार ने यद्यपि अधिकांशतः परंपरागृहीत उपमानों का ही प्रयोग किया है, फिर भी अपनी काव्योचित सहृदयता से उन्हें प्राणवंत बना दिया है। कहीं-कहीं अद्दहमाण ने स्वच्छंद पद्धति विरल प्रयुक्त या नये उपमानों का प्रयोग करके अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। संदेश-रासक में केवल बाह्य रूप-वर्णन ही नहीं है, अपितु गहरे जाकर हृदय पर पड़नेवाले रूप प्रभाव को भी उपमानों के माध्यम से व्यक्त किया है।"¹⁷

समासतः, संदेश-रासक का अप्रस्तुतविधान जहाँ सदियों से चली आ रही साहित्यिक परम्परा का अनुसरण करता है, वहाँ बीच-बीच में उसकी सविनय अवज्ञा करता हुआ नई परम्परा का सूत्रपात भी करता है। जहाँ वह परम्परा का अनुगमन करता प्रतीत होता है, वहाँ रसनीयता का स्रोत बनकर बखूबी पाठकों को रस-निमग्न करता भी है।

इसतरह 'संदेश-रासक' का अप्रस्तुतविधान परम्पराभुक्ति और परम्परामुक्ति, शास्त्रीयता और लौकिकता, आलंकारिकता और बिम्बधर्मिता का समन्वित रूप उपस्थित करता है।

1. मनोहरलाल : घनानंद के काव्य में अप्रस्तुत योजना; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23-दरियागंज, दिल्ली-6; प्र. सं. - 1974 ई.; पृ. - 61

2. बुद्धिनाथ का 'कैरव': साहित्य साधना की पृष्ठभूमि; ज्ञानपीठ प्रा. लि., पटना-4, द्वि.सं. - 1964 ई.; पृ.-124
3. संदेश-रासक : सं. - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-2; प्र. बा. 1975; पृ.-150
4. उपरिवत्; पृ.-150
5. उपरिवत्; पृ.-151
6. उपरिवत्; पृ.-151
7. उपरिवत्; पृ.-149
8. उपरिवत्; पृ.-151
9. उपरिवत्; पृ.-151
10. उपरिवत्; पृ.-151
11. उपरिवत्; पृ.-154
12. उपरिवत्; पृ.-154
13. उपरिवत्; पृ.-154
14. उपरिवत्; पृ.-150
15. उपरिवत्; पृ.-151
16. उपरिवत्; पृ.-181
17. उपरिवत्; पृ.-149
18. उपरिवत्; पृ.-152
19. उपरिवत्; पृ.-151
20. उपरिवत्; पृ.-161
21. उपरिवत्; पृ.-171
22. उपरिवत्; पृ.-161
23. उपरिवत्; पृ.-190
24. उपरिवत्; पृ.-150
25. उपरिवत्; पृ.-173
26. उपरिवत्; पृ.-162
27. उपरिवत्; पृ.-153
28. उपरिवत्; पृ.-168
29. उपरिवत्; पृ.-164
30. उपरिवत्; पृ.-170
31. उपरिवत्; पृ.-170

32. उपरिवत्; पृ.-170
33. उपरिवत्; पृ.-170
34. उपरिवत्; पृ.-171
35. उपरिवत्; पृ.-171
36. उपरिवत्; पृ.-174
37. उपरिवत्; पृ.-167
38. उपरिवत्; पृ.-144-45
39. उपरिवत्; पृ.-151
40. उपरिवत्; पृ.-184
41. उपरिवत्; पृ.-155
42. उपरिवत्; पृ.-170
43. उपरिवत्; पृ.-183
44. उपरिवत्; पृ.-155
45. उपरिवत्; पृ.-187
46. उपरिवत्; पृ.-192
47. संदेश-रासक की भूमिका से; पृ.-117

प्रोफेसर : हिन्दी विभाग;
ति. माँ. भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर (बिहार) - 812007

बौद्ध सिद्ध : सरहपाद

— डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

बौद्ध प्रस्थान में हीनयान आचरण-प्रधान साधना थी, जहाँ वासना का दमन होता था। शील, समाधि और प्रज्ञा जैसे त्रिरत्न की साधना से वासना का तेल सूख आता और चित्त-दीप की बाती बुझ जाती है - निर्वाण हो जाता है। महायान में वासना का दमन नहीं, शोधन होता था। महायान पारमितानय की साधना करता था, यद्यपि उसमें भावीयान के मंत्रनय का बीज भी विद्यमान था। यही मंत्रनय का बीज वज्रयान में अपनी समस्त सम्भावनाओं के साथ विकसित हुआ। मंत्रनय का लक्ष्य है - वज्रयांग की सिद्धि। इसकी साधना बिन्दु-साधना है। नैरात्म्यवादी इस बौद्ध मार्ग में चित्त ही सर्वस्व है जिसके दो रूप हैं - संवृत चित्त और बोधि चित्त। बोधिचित्त ही परमार्थ चित्त है। उसी की प्राप्ति वज्र-सिद्धि है। संवृत चित्त चंचल शुक्र है, परमार्थ में वही विशिष्ट साधना से वज्रोपम हो जाता है। गगनोपम हो जाने से वह उष्णीय चक्र में प्रतिष्ठित हो जाता है फिर निर्माण-चक्र (निम्नतम) हो या उष्णीष चक्र - सर्वत्र समभाव से स्थिर हो जाता है -

शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तं तदुच्यते

यह द्वन्द्वातीत समरस 'महासुह' दशा है। यह सिद्ध सरहपाद ही हैं जिन्होंने त्रिशरण में 'गुरुं शरणं गच्छामि' का चौथा चरण जोड़ा। क्षरणशील शुक्र ही संवृत चित्त है जिसे महामुद्रा के संसर्ग से क्षुब्ध कर अवधूती मार्ग में संचरित किया जाता है और शोधित होकर उष्णीष चक्र में प्रतिष्ठित

हो जाता है। मल का पूर्ण शोधन तो शक्तिमार्ग में ही होता है और शक्ति-मार्ग तंत्र-मार्ग है। कहा गया है -

**जयति सुखराज एकः कारणरहितः सदोदितः जगताम्।
यस्य च निगदन समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥**

यह सुखराज (महासुह) अद्वैत है, उसका कोई कारण नहीं है, वह सदा उदित है। वह सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान है। उसके विषय में कुछ कहते हुए सर्वज्ञ की भी वाणी विरत हो जाती है। इस आशय को व्यक्त करते हुए सरहपाद के कतिपय दोहे दिए जा रहे हैं -

मूल दोहा -

**अलिओ! धम्म महासुह पइसइ।
लवणो जिमि पाणीहि विलिज्जइ ॥ 2 ॥**

इस धारा के अनुसार परमार्थतः न आत्मा जैसी कोई वस्तु है और न ही धर्म जैसी। ज्ञानगोचर (आत्मा और धर्म) सभी वैसे ही अलीक हैं जैसे स्वप्न-दृष्ट ज्ञेय पदार्थ। स्वप्न में जिस प्रकार चेतना ही आकार धारणकर प्रतीतिगोचर होती है उसी प्रकार जागृत में भी चेतना ही नाना रूपाकारों में प्रतीत होती है। परमार्थतः चित्त ही सत् है - ज्ञेय आत्मा (जीव, जन्तु, प्राणी, मनुष्य) तथा धर्म (रूप, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार आदि) विषय मात्र अलोक हैं। महायान दर्शन में ऐसा ही माना गया है।

उत्तरार्द्ध की उपमा अभिजात साहित्य से ली गई है। उपनिषद् में परमार्थ सत् ब्रह्म और व्यावहारिक ज्ञेय पदार्थों के बीच यही उपमा दी गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक आरुणि श्वेतकेतु से कहता है कि नमक को पानी में डाल दो और कल फिर उसे मेरे पास लाना। श्वेतकेतु दूसरे दिन पानी लाता है पर नमक का वहाँ अता-पता नहीं रहता। आरुणि कहता है पानी को चखकर देखो और फिर बताओ। श्वेतकेतु कहता है - सारा पानी नमकीन हो गया है, परन्तु नमक अलग से कहीं दिखाई नहीं पड़ता। श्वेतकेतु कहता है कि परमार्थ सत् ऐसा ही है। यह सर्वत्र विद्यमान है पर दृष्टिगोचर नहीं होता। वृहदारण्यक में भी परमार्थ सत् के लिए यही उपमा दी गई है।

व्यवहार में ज्ञानगोचर समस्त पदार्थ परमार्थ महासुख में उसी प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी में विलीन हो जाता है।

**सरह भणइ जिण गुणगण एत्तवि।
पत्था एहुसो एहु परमत्थवि ॥ 2.1 ॥**

इन पंक्तियों में रहस्यमयी गुत्थियाँ भरी पड़ी हैं। इन पंक्तियों का सामान्य अर्थ इस प्रकार है - 'सरह कहता है कि जिण (जयी) के अमित गुणगण हैं। मार्ग इस प्रकार का है और वास्तव में अन्तिम सत्य इस प्रकार है।' चित्त के दो रूप हैं - निम्न अथवा संवृत तथा उच्च अथवा पारमार्थिक (बोधि-चित्त) सांवृतिक या अपारमार्थिक बद्धदशा में यह मन पवन या मनो पवन

के वशीभूत होकर निरन्तर गतिशील रहता है, चक्कर काटता रहता है परन्तु जब योगी अपनी पारमार्थिक यात्रा में गतिशील रहता है तब यह वात्या-चक्र टूट जाता है, तब चित्त इस मण्डल चक्कर से छुटकारा पा जाता है और 'शून्यता' की चरम स्थिति आ जाती है। इस दोहे का यही आशय जान पड़ता है। प्रो. शहीदुल्ला ने इसकी व्याख्या अन्यथा की है परन्तु श्री प्रबोधचन्द्र बागची की अभिमत व्याख्या यही है।

चित्त विगड़ अचित्त उएसहि।
सद्गुरु वअणे फुड पडिहासहि ॥ 3 ॥

यहाँ तक कि अन्ततः चित्त भी निःशेष हो जाता है और अचित् अस्तित्व में आ जाता है। श्री सद्गुरु के वचनोपदेश से वास्तविक स्थिति समुल्लसित हो उठती है।

जावण अप्पा जाणिज्जइ तावण सिस्स करेइ।
अन्धं अंध कहाव तिमि वेण वि कूव पडेइ ॥ 4 ॥

जब तक स्वयं पारमार्थिक स्थिति को न जान ले तब तक शिष्य न बनाए। अंधा यदि अंधे का नेतृत्व करेगा तो दोनों कूप में चले जाएँगे।

जव्वं मण अत्थमण जाइ तणु तुट्टइ बन्धण।
तव्वे समरस सहजे वज्जइ णउ सुददण बम्हण ॥

जिस क्षण में मन अस्तमित हो जाता है उस क्षण में सारे बन्धन निःशेष हो जाते हैं तब 'समरस सहज' की स्थिति आ जाती है। तब साधक में शूद्र और ब्राह्मण का भेद नहीं रह जाता। उसके लिए सारा लोक एक जातिक हो जाता है। यही 'सहज' भाव में स्थिति है।

अरे पुत्तो बोज्झु रसरसण सुसण्ठिअ अवेज्ज।
वक्खण पढन्तेहि जगहि ण जाणिउ सोज्झ ॥

अरे पुत्र रस-रसायन साधन काल में स्फुटतर शुद्धि को न जानते हुए जैसे साधक नष्ट हो जाता है वैसे ही रागादि की शुद्धि को ठीक से न जानने पर नष्ट हो जाता है। राग के कारण अभीष्ट धर्मादि में जो प्रवृत्ति होती है वह अतत्वात्मक होने से अविद्या ही है। अतः यह लोक इस मनोदशा में जो व्याख्यान देता या अनुशीलन करता है - वह सब निष्फल होता है। कारण, वह संसार के स्वरूप के विषय में ठीक-ठीक कुछ जानता नहीं। पर जो जानता है उसके विषय में इस तरह से कहा गया है -

अरे पुत्तो ततो विचित्तरस कहण ण सक्कइ वत्थु।
कप्परहिअ सुह-ठाणु वर जगु उअज्जइ तत्थु ॥

हे पुत्र जिसने उस तत्व का चिन्तन ठीक-ठीक कर लिया है वह उसके आस्वाद को वाणी का विषय नहीं बना सकता। ये संसार की वस्तुएँ जैसी नील-पीत आदि आकार की हैं क्या वह स्व-संवेद्य 'सहज' वैसा है? वह सत्य विकल्परहित है - सुख-स्थान है - श्रेष्ठ भवतत्त्व है - वहाँ भव-निर्वाण मंदरहित है। इसे स्वभाव-सिद्ध होने के कारण ध्यान आदि किसी साधन से

नहीं पाया जाता। यह अभिमान से नहीं, श्री गुरु परिज्ञान मात्र से उपलब्ध होता है। वही बात निम्नलिखित दोहे से भी कही जा रही है -

बुद्धि बिणासइ मण मरइ जहि तुटइ अहिमाण।

सो माआमअ परमफलु तहिं किं बन्झइ झाण॥

इस 'सहज' की उपलब्धि हो जाने पर श्री सद्गुरु द्वारा उसके व्यक्त हो जाने पर बुद्धि विनष्ट हो जाती है, निःशेष हो जाती है, मन मर जाता है, मिथ्याअभिमान-पुद्गल और धर्म-विषयक समाप्त हो जाता है। उस समय मायामय परम कला भी अकिञ्चित्कर हो जाती है। मनः परिकल्पना की गति बन्द हो जाती है - फिर ध्यान-बन्धन से क्या लेना-देना?

गुरु उपएसे अमिअ-रसु धाव ण पीअउ जेहि।

बहु सत्थत्थ मरुत्थलिहिं तिसिए मरियउ तेहि॥

जिन कापुरुषों ने महावेग से दौड़कर गुरु-उपदेश-अमृत का पान नहीं किया - वे मरुस्थल में भटकते हुए तृषार्त सार्थवाह की तरह विनष्ट हो जाते हैं, कालचक्र में पिस जाते हैं।

पण्डिअ सअल सत्य वक्खाणइ।

देहिहिं बुद्ध वसन्त न जाणइ॥

अवणाअमण ण तेण विखण्डिअ।

तो वि णिलज्ज भणइ हउं पण्डिअ॥

पण्डित लोग नाना प्रकार के शास्त्रों पर व्याख्यान देते रहते हैं। उनका लक्ष्य सत्य-बोध नहीं, अपितु जय-पराजय रहता है, द्रव्यार्जन रहता है। देहस्थ बुद्ध को सद्गुरु-उपदेश से विमुख ये पण्डित नहीं जानते। जिसने गुरु-प्रदत्त आम्नाय को, रहस्यमय परम्परा को नहीं जाना वे स्वयं नष्ट होते हैं और दूसरों को भी नष्ट करते हैं। ऐसे लोग संसार के आवागमन को निरस्त नहीं कर पाते, फिर भी ये निर्लज्ज अपने को पण्डित ही समझते हैं। ये पण्डित नहीं, मूर्ख हैं।

विसअ-विसुद्धें णउ रमइ केवल सुण्ण चरेइ।

उड्डी बोहिअ काउ जिम पलुटिअ तहवि पडेइ॥

जो सद्गुरु की आज्ञा से विशुद्ध बन्धनकारी विषयों में नहीं रमता, अपितु निरर्थक शून्य में भटकता रहता है, उसकी वही स्थिति होती है जो उस कौए की होती है जो जहाज से हटकर निरालम्ब समुद्र में भटकता रहता है और अन्ततः फिर वहीं लौट आता है। पुनः इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहते हैं -

विसआसत्ति म बन्ध कुरु अरे बढ सरहें वुत्त।

मीण पअङ्गम करि भमर पेक्खह हरिणहें जुत्त॥

सरह कहते हैं कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को खींचकर मृत्यु के गाल में झोंकनेवाले विषयों के प्रति आसक्ति न करो। देखो, मीन, पतङ्ग, हाथी, भ्रमर और हरिण - ये प्राणी एक-एक विषय - रस, रूप, स्पर्श, गन्ध तथा शब्द के चक्कर में पड़कर अपना नाश कर लेते हैं।

**कासु कहिज्जइ को सुणइ एत्थु कज्जसु लीण।
दुटुठसुरङ्गम धूलि जिम हिअ-जाअ हिअहिं लीण॥**

वज्र-मार्ग बड़ा दुरूह मार्ग है, किससे कहा जाय - कौन सुपात्र है जो इसे सुने? कौन है जो इसे सुने? कौन है जो इसे ठीक से ग्रहणकर सहज पद को पा सके? इस कार्य में लीन कोई निपुण दिखाई नहीं पड़ता। ऐसे पुरुषपुङ्गव विरल ही हैं। जैसे किसी दुर्ग का भंजन करने के लिए सुरङ्ग बनाई जाए - तो उस सुरङ्ग के पास सबकोई नहीं जा सकते - सुरुङ्क-सुरङ्ग मर्मज्ञ ही जा सकता है, वही उसकी धूल और मिट्टी का सामना कर सकता है। अपात्र स्वल्प-हृदय होते हैं, सुपात्र दृढ़तर-हृदयवाले होते हैं। सुरङ्ग की धूलि स्वल्प हृदय को बर्दाशत नहीं हो सकती पर दृढ़तर हृदयवाले उसे पचा लेते हैं। यही स्थिति इस वज्र-मार्ग की है जो संसार-दुर्ग के नाश के लिए तैयार किया गया है। उस पर सर्व-सामान्य नहीं चल सकता।

**जत्त वि पइसइ जलहि जलु तत्तइ समरस होइ।
दोष गुणाअर चित्त तहा बड़ परिवक्खण कोइ॥**

जिस प्रकार समुद्र के जल में दूसरा जल प्रविष्ट हो तो वह समरस हो जाता है उसी प्रकार जो साधक सिद्ध हो चुके हैं, परिज्ञानी और महर्द्धिक हैं उनके लिए संसार के दोष-समूह प्रतिपक्ष नहीं बनते - वे उन्हें नहीं बाँध पाते। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध - इनका आकर्षण दोष है। परन्तु श्री सद्गुरु के उपदेश से जिनको शुद्धि प्राप्त हो चुकी है उनके लिए ये विषय, विषय (बन्धनकारी) रह ही नहीं जाते।

**मुक्कइ चित्तगयन्द करु, एत्थ विअप्य ण पुच्छ।
गअण-गिरि-णइ-जल पिअउ, तहि तड बसइ सइच्छ॥**

पहले चित्त-गजेन्द्र को मुक्त किया जाए। इसमें किसी प्रकार का संशय मत उठाना। फिर वह गगन, गिरि, नदी का जलपान करे और वहाँ स्वेच्छापूर्वक वास करे। यह चित्त गजेन्द्र पंच-स्कंध स्वरूप है। पंच-स्कंध हैं - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। यह चित्त गजेन्द्र-सा विषय रूपाकार है पर वही जब शून्य में प्रतिष्ठित हो जाता है तब वहाँ क्लेशादि रूपावरण का कोई चिह्न लक्षित नहीं होता। चित्त करुणा की साधना से शून्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। सरहपाद के दोहों में शून्य तरुवर में करुणारूपी फूलों का खिलना दिखाया गया है। जब साधक के मन में परमार्थवृत्ति जगती है तभी करुणा के फूल खिलते हैं -

**सुण्णा तरुवर फुल्लिअउ, करुणा विहि विचित्त।
अण्णा मोक्ष परत्त फलु, एहु सोक्ख परु चित्त॥**

विविध विचित्र करुणा के फूलों से 'शून्य' तरुवर प्रफुल्लित हुआ है। यह लोकोत्तर फल है। यह चित्त ही परम महासुख स्थल बन जाता है।

**अद्वय चित्त तरुवरह गउ तिहु वणे वित्थार।
करुणा फुल्ली फल धरइ णाउ परत्त उआर॥**

शून्यता और करुणा, प्रज्ञा और उपाय, कमल और कुलिश जब अद्वय भाव में प्रतिष्ठित हो जाते हैं - जहाँ भव और निर्वाण का भेद जाता रहता है, तब उसी का सर्वत्र विस्तार हो जाता है। यही अद्वय चित्त तरुवर है उसमें करुणा के फूल खिलते हैं और अनुत्तर फल लगता है। यही 'तथता' है। बौद्ध चिन्ताधारा जिस अमूर्त दर्शन पर हावी रही उसमें 'तथता' को महत्वपूर्ण स्थान मिला। 'तथता' अपने मूलरूप में शून्यता के समकक्ष रही है। अश्वघोष कहता है कि 'तथता' न तो भाव है, न अभाव और न ही भावाभाव का निषेध। मतलब, किसी एकान्त शब्द से इसे नहीं कहा जा सकता। इसी को सरहपा इस प्रकार कहते हैं -

भवहि एक्खइ खएहिणिवज्जइ। भावरहिअ पुणु कहिउवज्जइ॥

वेइ विवज्जइ जो उअज्जइ। अच्छहि सिरिगुरु णाहि कहिज्जइ॥

इस भावाभाव से जो विलग हो जाता है उसी में समस्त संसार विलीन हो जाता है। 'तथता' प्राप्ति का यह एक आवश्यक नियम-सा है कि चित्त इसको प्राप्त करने के लिए निश्चल-सा हो जाए।

भावाभावे जो पछिण्णउ। तहि जग तिअ सहाव विलीणउ।

जव्वे नहि मण णिच्चल थाक्कइ। तव्वे भवनिर्वाणहि मुक्कइ॥

और भी सरह कहता है -

झाणहीण पवज्जे रहिअउ। गही वसत्ते भाज्जे सहि अउ॥

(जइ) मिडि विसअ रमत्ते ण मुच्चअ। सरह भणइ पस्सिआण कि रुच्चअ॥

जइ पच्चक्ख कि झाणे की अइ। अहव झाण अन्धार साधिअअ॥

सरह भणइ मइ कइडिय राव। सहज सहाउ णउ भावाभाव॥

जाल्लइ उपज्जइ ताल्लइ वाज्जइ। ताल्लइ परम महासुह सिज्जइ॥

सरह मणइ महु (कि) वकरमि। पसु लोअण बुज्जइ की करमि॥

रूक्ष ध्यान या जागतिक आनन्दोपादान का न्यास या त्याग करनेवाले संन्यास को परे रखकर, घर में ही स्वकीया के संग जीवन-निर्वाह करने और समस्त विषयादिक का उपभोग या सेवन पूरी तरह (मिडि - दृढ़तापूर्वक एवं पूर्णरूपेण) करते हुए ही साधक मुक्त होता है। इसके समक्ष उस परिज्ञान-ज्ञान के रूक्ष क्षेत्र का भला क्या बिसात? अर्थात् जब यह सहज उपलब्ध सुगम और सरल मार्ग ही पार नहीं किया जा सका, तो वह कष्टपूर्ण साधना होने से रही। इसे ध्यान-धारणा में आबद्ध पशु (माया-लिप्त लोग) नहीं जान पाएँगे। वस्तुतः जिन प्रवृत्तियों और संस्कारों को लेकर तुम्हारा जन्म हुआ है उसी को लेकर मरण भी निश्चित है। नाश और निर्माण में अन्य, अन्यथा और अतिरिक्त तत्त्वों की कोई सत्ता नहीं। जो प्रत्यक्ष है - सहज है - उसमें ध्यानादि से क्या लेना-देना? यदि ध्यान का कोई समुचित विषय है ही नहीं, तो यह ध्यान अन्धकार की साधना-मात्र है। सहज में न भाव है न अभाव - पर इसे पशु-प्रकृति के लोग समझ ही नहीं पाते - क्या किया जाय? (सहज सिद्ध साधना एवं सर्जना)।

जहि मण पवन न संचरइ रवि ससि नाहिं पवेस।
तहि बढ चित्त विसाम करु सरहें कहिअ एसु॥

इस अवाङ्मनोगोचर, चतुष्कोटि विनिर्मुक्त, भावाभाव विवर्जित 'सहज' में मन एवं पवन का संचार नहीं होता। वहाँ रवि एवं शशि का प्रवेश या द्वन्द्व असम्भव है। इसी सहज स्थिति में चित्त को विश्राम देने का उपदेश सरहपाद ने दिया है। सरहपाद के कतिपय दोहों में 'सहज' की व्याख्या को गीतोक्त 'आत्मा' की व्याख्या के आलोक में देखा जा सकता है।

संकपास तोखउ गुरु वअणें। न सुगइ सोणउ दीसइ न अणें।
पवन बहत्ते णहु सो हल्लई। मलन जलत्ते न सो उज्झइ।
घणि वरसत्ते णहु सोम्मइ। नउ वज्जइ णउ खअहि पइस्सइ॥

सरह मानते हैं कि सहजोन्मुखी साधना के लिए गुरु की अनिवार्यता है, वही शंका-पाश को नष्ट कर सकता है। यह सहज श्रवण से अश्रव्य, दृष्टि से अदृश्य, पवन से अस्पृश्य और अकम्य, अग्नि से अदाह्य, घनवर्षण से न भीगनेवाला और समरस तथा आनन्दमय बताया गया है।

अपने रचि रचि भवनिर्वाणा। मिछें लोअ बन्धावए आणा॥
अम्हें णजाणहुं अचित्त जोइ। जएमरण भव कइसण होइ॥
जइसो जाममरणवि तइसो। जीवत्ते मइलें साहिं विशेषो॥
जा एथु जाममरणे विसइका। सो करउ रस रसनिरकइखा॥
जे सचराचर तिअस मेमत्ति। ते अजरामर किम्पि न होस्ति॥
आमे काम कि कामे आम। सरभणति अचिन्त सो धाम॥

संसार से बन्धन और मुक्ति - इन दो विकल्पों को रच-रचकर कपोल-कल्पना कर लोग व्यर्थ ही अपने को चक्कर में डालते हैं। मैं तो परमात्मलीन-अचिन्त्य योग-सिद्ध हो चुका हूँ, हमारी तो समझ में ही नहीं आता कि जन्म-मरण लक्षित संसार का स्वरूप कैसा और किस तरह का है? मेरे लिए तो जैसा जन्म वैसा ही मरण; कारण, मैं तो जीवित रहते ही मुक्त हूँ, अब जीवन क्या और मृत्यु क्या? मुझे तो दोनों में कुछ विशेष प्रतीत नहीं हो रहा है। जिसको जन्म-मरण में विकल्प रहता है वही रस-रसायनादि के द्वारा योग-साधन की इच्छा करता है। जो लोग चराचर लोक में, मृत्यु भुवन या स्वर्ग लोक में भ्रमण करते रहने की बात करते हैं उन्हें अजर-अमर नहीं माना जा सकता। मुक्त तो वही है जिसकी आत्मा नित्य अविनाशी आनन्द में लीन हो। सरह कहता है कि वह इस विवाद में नहीं पड़ेगा - उसको तो एक ही धाम है - अनुत्तर।

2, स्टेट बैंक कॉलोनी, देवास रोड,
उज्जैन - 456010 (म.प्र.)

जहिं चउपयाइँ तोसियमणाइँ धण्णइँ चरंति

जहिं चुमुचुमंति केयारकीर	वरकलमसालिसुरहियसमीर ।
जहिं गोउलाइँ पउ विक्किरंति	पुंडुच्छुदंडखंडइँ चरंति ।
जहिं वसह मुक्कढेक्कार धीर	जीहाविलिहियणंदिणिसरीर ।
जहिं मंथरगमणइँ माहिसाइँ	दहरमणुडुवावियसारसाइँ ।
काहलियवंसरवरत्तियाउ	वहुअउ घरकम्मि गुत्तियाउ ।
संकेयकुडुंगणपत्तियाउ	जहिं झीणउ विरहिं तत्तियाउ ।
जहिं हालिणिरूवणिवद्धचक्खु	सीमावडु ण मुअइ को वि जक्खु ।
जिम्मइ जहिं एवहि पवसिएहिं	दहि कूरु खीरु धिउ देसिएहिं ।
पवपालियाइ जहिं बालियाइ	पाणिउ भिंगारपणालियाइ ।
दितिंए मोहिउ णिरु पहियविंदु	चंगउ दक्खालिवि वयणचंदु ।
जहिं चउपयाइँ तोसियमणाइँ	धण्णइँ चरंति ण हु पुणु तिणाइँ ।
उज्जेणि णाम तहिं णयरि अत्थि	जहिं पाणि पसारइ मत्तु हत्थि ।

घत्ता - मरगयकरकलियाहिं महियलि घुलियाहिं फुरियाहिं हरियाहिं मूढमइ ।

विणडिउ दुव्वासहिं रसविण्णासहिं णीणिउ मिट्ठि मंदगइ ॥ 21 ॥

जसहरचरिउ 1.21

उस प्रदेश के खेतों में शुक चुन-चुनकर धान्य खाते हैं। वहाँ कलम और शालि जाति के धान्यों से सुगन्धित पवन बहती है। गोकुल खूब दूध बखेरते हैं और मोटे इक्षुदण्ड के खण्ड चरते हैं। वहाँ बड़े-बड़े बैल डकार छोड़ते हुए तथा अपनी जीभ से गायों के शरीर को चाटते दिखाई देते हैं। वहाँ कहीं धीमी चाल चलते हुए अथवा पानी के डबरो से सारसों को उड़ाते हुए महिष दिखाई देते हैं। काहली और बाँसुरी की मधुर ध्वनि में अनुरक्त बहुएँ अपने घर के काम-काज में लगी हैं। अपने गुप्त संकेत-स्थल में पहुँचकर विरह से तप्तयमान प्रेमिकाएँ उदास हुई अपने प्रेमियों की प्रतीक्षा कर रही हैं। वहाँ कृषकों की स्त्रियों के सौन्दर्य पर अपनी आँखें गड़ाये हुए कोई एक यक्ष सीमावर्ती वट वृक्ष को नहीं छोड़ता। वहाँ के देशीय जन प्रवासियों को यों ही दही, भात और खीर का भोजन कराते हैं। वहाँ बालिकाएँ पाल (प्रपालिका अर्थात् प्याऊ चलानेवाली बालिकाएँ) भुंगार व नालिका द्वारा जल पिलाती हुई अपना सुन्दर मुखचन्द्र दिखाकर पथिक-वृन्द को अत्यन्त मोहित कर लेती हैं। वहाँ चौपाये सन्तुष्ट मन से धान्य चरते हैं, न कि तृण। वहाँ उज्जयिनी नामकी नगरी है। वहाँ महाबल द्वारा हस्तिशाला से बाहर निकाला गया मत्त हाथी मन्द गति से चलता हुआ भ्रमवश मूढता को प्राप्त होकर भूमिपर बिखरी हुई उस दुर्गन्धयुक्त और रस-विहीन सड़ी घास की ओर भी अपनी सूँड फैलाने लगता है क्योंकि वह आस-पास जड़ी हुई मरकत मणियों की किरणों से मिलकर हरी घास के समान चमक उठती है।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

आचार्य जिनदत्त सूरि और उनकी अपभ्रंश रचनाएँ

— डॉ. (श्रीमती) सूरजमुखी जैन



आचार्य जिनदत्त सूरि उच्चकोटि के धर्माचार्य, लेखक एवं सुकवि थे। आपने सम्पूर्ण मरुदेश का भ्रमण कर जैनधर्म का प्रचार किया, इसलिये आपको मरुस्थली कल्पतरु भी कहा जाता है। अजमेर नरेश अणौराज और त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल आदि तत्कालीन शासक एवं सामन्त आपके भक्त थे। जैन संस्कृति और साहित्य के पुनरुत्थान की दृष्टि से आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपने अपने समय में साधुओं के शिथिलाचार को दूर करने का अपूर्व श्रम किया था। आप संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं के विशेषज्ञ विद्वान थे।

परिचय तथा रचनाकाल

आचार्य जिनदत्त सूरि के शिष्य सुमतिगणि ने 'गणधरसार्द्धशतक' में आपका परिचय देते हुए लिखा है कि आप वि.सं. 1132 में वाच्छिग नामक श्रावक की पत्नी बाहड़देवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वि.सं. 1141 में धर्मदेवोपाध्याय से दीक्षा ग्रहण की और जिनवल्लभ सूरि के देहावसान के बाद वि.सं. 1169 में देवभद्राचार्य से सूरिपद प्राप्त किया।¹

वि.सं. 1285 में पूर्णभद्रगणि ने आचार्य जिनदत्त की स्तुति करते हुए लिखा है -

भास्वांस्ततः समुदगाज्जिनदत्तसूरि -
 भंठ्यारविन्दचयबोधविधानदक्षः ।
 गावः स्फुरन्ति विधिमार्गविकासनेक -
 तानास्तमोविदतानप्रवणा यदीया ॥²

वि.सं. 1293 में जिनपालगणि ने आपकी स्तुति निम्न प्रकार की है -

जिनदत्त इति श्रीमान् सूरिस्तत्पदभूषणः
 जज्ञेस ज्ञान माणिक्यरोहणो विधिपोषणः ॥³

खरतरगच्छपट्टावली में कवि के स्वर्गवास का वर्णन भी निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है -

'अथैवंविधाः क्षत्रियब्राह्मणादिकुलीनलक्ष श्राद्ध प्रतिबोधकाः जलभूमोपरि
 कम्बलास्तरणादि प्रकारेण पञ्चनदीसाधकाः संदेहदोहावतसाधनेकग्रन्थविधायकाः
 परकायष्वेशिन्यादि विविधविद्यासम्पन्ना परोपकारकरिणः परमयशः सौभाग्यधारिणः
 श्रीखरतरगच्छनायकाः महाप्रभावकाः श्रीजिनदत्तसूरायः संवत् 1211 अषाढ सुदि
 एकादश्यां अजमेरुनगरेऽनशनं कृत्वा स्वर्गं गताः ॥ 48 ॥⁴

स्पष्ट है कि आचार्य जिनदत्तसूरि विद्या और तन्त्र-मन्त्र आदि के ज्ञाता थे और उन्होंने वि.सं.
 1211 में समाधिमरण द्वारा अजमेर में प्राण त्याग दिया ।

रचनाएँ

कवि की अबतक उपलब्ध रचनाएँ हैं - 1. उपदेश रासरसायन, 2. कालस्वरूपकुलकम्,
 3. चर्चरी ।

1. उपदेश रासरसायन - उपदेश रासरसायन में 80 पद्य हैं । कवि ने इन पद्यों में आत्मसाधना
 का निरूपण किया है । आरम्भ में ही बताया है कि यह मनुष्य जन्म बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ
 है और राग-द्वेष तथा मोह ही भवभ्रमण का कारण है । आत्मसाधना के लिए गुरु का अवलम्बन
 लेकर राग-द्वेष तथा मोह से मुक्त होना आवश्यक है ।⁵ गुरु ही ऐसा पोत है जो स्वयं तो संसार-
 समुद्र से तरता है, दूसरों को भी तार देता है । संसार-तरण के लिए कवि ने गुरु को प्रमुख साधन
 माना है । वे कहते हैं -

गुरुपवहणु निष्पुणिण न लब्धइ
 लिणि पवहि जणु पडियउ कुब्भइ ।
 सा संसार समुद्दि पइट्ठी
 जहि सुक्खह वत्ता वि पणट्ठी ॥⁶

मन तथा इन्द्रियों की चंचलता ही संसार-भ्रमण का कारण है, जो मन तथा इन्द्रियों को वश
 में नहीं कर सकता उसे कभी मुक्ति नहीं मिल सकती ।

तसु किव होइ सुनिव्वउ संगमु
 अथिरु जि जिव किव्काण तुरंगमु ।
 कुप्पहि पइइ न पणिग विलगइ,
 वायह मरिउ जहिच्छइ वगगइ ॥⁷

बाह्याडम्बरो का तिरस्कार करते हुए कवि कहते हैं कि भावशुद्धि के बिना बाह्यवेष धारण करने मात्र से छुटकारा नहीं मिल सकता।⁸

चित्तशुद्धि के लिए देव-शास्त्र-गुरु की आराधना करनी चाहिए। धन को यथाशक्ति धार्मिक कार्यों में लगाना चाहिए। भगवान की स्तुति करनी चाहिए। महापुरुषों का जीवनचरित पढ़ना-सुनना चाहिए। उन्हीं का अभिनय करना चाहिए।⁹ धर्मस्थान पर लौकिक कार्य नहीं करना चाहिए। जो शुद्ध भाव से क्रोधादि कषायों से रहित हो भगवान की भक्ति करता है उसकी मनुष्य तो क्या देव, देवेन्द्र भी स्तुति करते हैं। आत्मशुद्धि के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने महान् गुणों की ओर भी ध्यान न देकर दोषों की ओर ध्यान दे तथा दूसरों के अल्प गुणों का भी प्रकाशन करे।¹⁰

कवि का मत है कि मिथ्यादर्शन के कारण ही जीव वस्तु के यथार्थस्वरूप को नहीं जान पाता और इसी कारण वह भवभ्रमण करता है, सम्यक्दर्शन होने पर ही वह मोक्ष-सुख को प्राप्त कर सकता है -

तिवदेसणरायंध निरिक्खहि
जं ण अत्थि तं वत्थु विवक्खहि
ते विवरीयदिट्ठि सिखसुक्खइ
पावहिहि सुमिणि विकहपच्चक्खइ।¹¹

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक है। जो मन की मलिनता के कारण दूसरों के दोषों को ढूँढ़ता है, व्यर्थ कलह करता है, अपनी असत्य बात को भी सत्य और दूसरों की सत्य बात को भी असत्य सिद्ध करता है, विकृत वचन बोलता है, मद करता है, परस्त्री व परधन में आसक्ति रखता है, अधिक परिग्रह का संचय करता है, उसे कभी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।¹²

2. कालस्वरूप कुलकम् - इसमें 32 पद्य हैं। कवि ने प्रारंभ में ही दुःखपूर्ण संसार में मनुष्य-जन्म की दुर्लभता और उसकी असफलता का कारण बताया है। वह कहते हैं कि मनुष्य मोहरूपी नींद में सो रहा है, उठकर मोक्षमार्ग में नहीं लगता, यदि सद्गुरु उसे जगाना चाहता है तो उसके वचन उसे अच्छे नहीं लगते।

मोहनिद् जणु सुत्तु न जग्गइ,
तिण उदिति सिवमग्गि न लग्गइ।
जइ सुहत्थु कु वि गुरु जग्गावइ
तु वि तव्वयणु तासु नवि भावइ।¹³

गुरु के वचनों पर विश्वास कर राग-द्वेष तथा मोह का त्याग करनेवाले को ही सिद्ध-सुख की प्राप्ति होती है।

परमत्थि ण ते सुत्त वि जग्गहि
 सुगुरु वयणु जे उठ्ठेवि लग्गहि।
 रागद्वेष मोह वि जे गंजहि
 सिद्धिपुरन्धिते निच्छइ भुंजहि॥¹⁴

गुरु का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कवि कहते हैं कि जिस पर सद्गुरु की कृपा हो गयी और जिसके मन में पंचपरमेष्ठी का वास है, उसका यमराज भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता है।

जो जणु सुहगुरु दिट्ठिहि दिट्ठउ,
 तसु किर काइ कारइ जमु रुट्ठउ।
 जसु परमेट्ठि मंतु मणि निवसइ,
 सो दुहुमन्झि कयावि न पइसइ।¹⁵

कवि ने कुगुरु-सुगुरु का अन्तर बताते हुए सद्गुरु की पहचान भी बतायी है। कुगुरु कष्ट का कारण है, जो बुद्धिमान सद्गुरु के स्वरूप को जानता है वही परमपद का अधिकारी है।

कुगुरु सुगुरु सम दीसहि बाहिरि।
 यदि जो कुगुरु सु अंतरु बाहिरि।
 जो तसु अंतरु करइ वियक्खणु।
 सो परमप्पउ लहइ सलक्खणु।¹⁶

सच्चा गुरु लोभ से रहित होता है। लौहयुक्त पोत के समान लोभी गुरु भी शिष्य को संसार-सागर से पार नहीं कर सकता अपितु वह आपत्ति का ही कारण होता है। यथा -

लौहिउ जडिउ पोउ सु फुट्ठइ
 चुंबकुजहि पहाणु किव वट्ठइ।
 नेय समुदह पारु सु पावइ
 अंतशील तसु आवय आवइ॥¹⁷

सद्गुरु की प्राप्ति हो जाने पर जो उसके वचनों पर श्रद्धान कर उसका ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार आचरण करता है, वह अवश्य ही शिवरमणी से रमण करने लगता है, पुनः संसार में लौटकर नहीं आता।¹⁸

संसार के कारण राग-द्वेष और मोह का त्याग किये बिना बाह्य वेष धारण करने तथा केशलुंच करने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सद्गुरु के वचनों पर श्रद्धान कर राग-द्वेषादि आन्तरिक मल को दूर करने का ही प्रयास करना चाहिए।

वहुय लोय लुंचिय सिर दीसहिं।
 पर रागद्वोसहिं सहुं विलसहिं।
 पढहि, गुणहिं सत्थइ वक्खाणहि
 परिपरमत्थु कित्थु सुण जाणहि।

3. चर्चरी - कवि ने अपने गुरु जिनवल्लभसूरि की स्तुति में चर्चरी लिखी है। यह एक प्रकार की लौकिक गाथा है, पर इसमें भी कवि ने बाह्याडम्बरों का निरसन निर्भीकतापूर्वक किया है। मठाधीशों, पाखण्डी साधुओं एवं प्रदर्शन के हेतु ग्रन्थों का अम्बार लगानेवाले साधुओं की खुलकर भर्त्सना की है और चित्तशुद्धि को ही आत्मकल्याण के लिए उपादेय बताया है।

जिनदत्त सूरि की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने सरस शैली में धर्मोपदेश की रचना की है। उन्होंने अपने उपदेश रसायन में श्रृंगारिक विभाव अनुभावों का भी चित्रण किया है। अतः इनके काव्यों में सरसता अधिक पायी जाती है।

1. गणधरसार्द्ध शतक गाथा 78, 148
2. धन्यशालिभद्र चरित्र (नेजे.सा. सूची) अप्रसिद्ध, पृ. 59
3. द्वादशकुलाकतिवरणप्रान्ते
4. अपभ्रंशकाव्य त्रयी, लालचन्द भगवानदास गांधी, ओरियन्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा, भूमिका पृ. 60।
5. उपदेशरास रसायन, पृ. 30, दोहा 2
6. वही, दोहा 48
7. वही, दोहा 13
8. वही, दोहा 16
9. वही, दोहा 35, 36, 37
10. वही, दोहा 39, 43, 49
11. वही, दोहा 60
12. वही, दोहा 72, 73, 74
13. अपभ्रंशकाव्यत्रयी के अन्तर्गत कालस्वरूप कुलकम्, 5
14. वही, 6
15. वही, दोहा 31
16. वही, दोहा, 11
17. वही, दोहा 29
18. वही, दोहा.32

णिच्चोरमारि णिल्लुत्तदुक्खु

जहिं चंदकंति माणिककदित्ति
 जहिं पोमरायराएण लित्त
 जहिं इंदणीलघरि कसणकंति
 सुपहायकालि जोयंतियाहिं
 अमलियमंडणु मुहु दिट्ठु जेत्थु
 अप्पाणउ जूरिउ तियहिं जेत्थु
 जहिं छडयघित्तकुसुमावलीउ
 जहिं णंदइ जणु जणजणियसोक्खु
 जहिं गयमयसित्तउ रायमग्गु
 मुहचुअतंबोलरसेण रत्तु
 कप्पूरधूलिधूसरियचमरु

उल्ललइ गयणि णं धवलकित्ति ।
 णउ लायइ कुंकुमु हरिणणेत्त ।
 वहु णज्जइ सियदंतहिं हसंति ।
 मणिभित्तिहि चिरु पवसियपियाहिं ।
 हा पिय विणु मंडणु हुउ णिरत्थु ।
 डिंभप्पडिबिंवहो देइ हत्थु ।
 मोत्तियरइयउ रंगावलीउ ।
 णिच्चोरमारि णिल्लुत्तदुक्खु ।
 हयलालाजलपंकेण दुग्गु ।
 णिवडियभूसणमणियरविचित्तु ।
 मयणाहिपरिमलुब्भमियभमरु ।

घत्ता- जहिं णरवइ णाएँ मंति उवाएँ ववहारु वि सच्चें वहइ ।
 कुलु कुलवहुसत्थें पुरिसु वि अत्थें अत्थु वि जहिं दाणिं सहइ ॥

जसहरचरिउ 1.22

उस उज्जयिनी नगरी में चन्द्रकान्त और माणिक्य रत्नों की प्रभा आकाश में फैल रही है, जैसे मानो वह उस नगर की धवल कीर्ति हो। वहाँ की मृगनयनी स्त्रियाँ पद्म रागमणि की कान्ति से लिप्त होने के कारण कुंकुम लगाना आवश्यक नहीं समझतीं। वहाँ इन्द्रनील मणिमय घरों में कृष्णवर्ण बहुएँ तभी दिखाई देती हैं जब हँसने से उनके दाँत दिखाई पड़ते। जिनके पति दीर्घकाल से प्रवास में गये हैं, वे जब प्रभातकाल में मणिमय भित्तियों में अपने अम्लान-भूषणमय मुख को देखती हैं तब वे कह उठती हैं - हाय, प्रियतम के बिना यह मण्डन निरर्थक गया। अपने में झूरती हुई स्त्री बालक का प्रतिबिम्ब देखकर उसको हाथ लगाने का प्रयत्न करती है। वहाँ पुष्पावलियों से युक्त रंगावलियाँ मोतियों से विरचित दिखाई देती थीं। वहाँ चोरों या मारीका भय नहीं था। दुःख का अभाव था और लोग परस्पर सुख बढ़ाते हुए आनन्द से रहते थे। वहाँ का राजमार्ग हाथियों के मद से सींचा हुआ था तथा घोड़ों की लार से उत्पन्न कीचड़ के कारण दुर्गम हो गया था। वह लोगों के मुख से गिरे हुए ताम्बूल-रस से लाल तथा गिरे हुए आभूषणों के मणियों से विचित्र दिखाई देता था। वहाँ की चवरियाँ कर्पूर की धूलि से धूसरित थीं तथा कस्तूरी की सुगन्ध से आकर्षित होकर उनपर भौरें मँडरा रहे थे।

वहाँ राजा न्याय से तथा मंत्री उपाय से, सत्यता के साथ राज-व्यवहार चलाते थे तथा वहाँ का प्रत्येक परिवार कुल-वधुओं के समूह से, प्रत्येक पुरुष धन से, और धन भी दान से अलंकृत था।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

रोडा-कृत 'राउलवेल' का काव्य-सौन्दर्य

— डॉ. महावीरप्रसाद शर्मा

महाकवि रोडा-कृत 'राउलवेल' (राजकुल विलास) एक भाषा-काव्य है। 11वीं शताब्दी के इस शिलांकित भाषा-काव्य की भाषा तत्कालीन समाज में प्रचलित पुरानी कोसली का एक सुन्दर उदाहरण कही जा सकती है। 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' की भूमिका में डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी कहते हैं कि "उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' के माध्यम से जिस प्रकार नव्य-भारतीय आर्यभाषाएँ मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं से विकसित हुई हैं उसके अध्ययन के लिए हमें कुछ मूल्यवान सामग्री प्राप्त हुई है। इसमें हमें मुख्यतः कोसली (या पूर्वी हिन्दी) और साधारणतः ऊपर और नीचे की गंगा की घाटी की आर्य बोलियों के इतिहास का अध्ययन करने के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साक्ष्य मिला है। जिस भाषा का विवरण इसमें दिया गया है वह निस्संदेह एक वास्तविक बोलचाल की भाषा का उदाहरण है - वह पश्चिमी अपभ्रंश की भाँति की कोई कम या अधिक कृत्रिम साहित्यिक भाषा मात्र नहीं है, और इसलिए 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' का मूल्य नव्य भारतीय आर्यभाषा शास्त्र के अध्ययन के लिए और भी अधिक है।" 'राउलवेल' भी 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' के समान दूसरी मूल्यवान सामग्री है। इस संदर्भ में डॉ. माताप्रसाद गुप्त का यह कथन नितान्त विचारणीय है, जब वे कहते हैं कि - "यह 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' से भी पूर्व की रचना है, जो किसी पण्डित द्वारा केवल भाषा-परिचय के लिए नहीं प्रस्तुत की गई है, जिस प्रकार 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' की गई है, बल्कि एक कवि की

कलापूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसमें पद्य ही नहीं गद्य का भी प्रयोग उसके द्वारा अधिकारपूर्वक किया गया है और जिसके सम्बन्ध में एक बड़ी भारी बात यह है कि उसका पाठ शिलांकित होने के कारण अपने मूल रूप में सुरक्षित है।¹²

रोडा-कृत 'राउलवेल' की प्रथम बार जानकारी डॉ. हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी ने दी थी।¹³ इसके बाद सन् 1960 ई. में डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इसका मूल पाठ प्रकाशित किया।¹⁴ प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई में स्थित 45"×33" आकार का यह शिलांकित भाषा-काव्य है। यद्यपि यह शिलालेख अपने आप में पूर्ण है; किन्तु बीच-बीच में इसका कुछ अंश त्रुटित भी है। वस्तुतः यह 11वीं शती की लोकभाषा में रचित एक शृंगार-काव्य है, जिसमें छः नायिकाओं का नख-शिख वर्णन है।

'राउलवेल' (राजकुल-विलास) का रचनाकार रोडा है। शिलांकित भाषा-काव्य के अन्त में कहा गया है कि -

रोडे राउलवेल वखाणी।

(पुणु) तहं भासहं जइसी जाणी ॥ पंक्ति सं. 46

अर्थात् रोडा के द्वारा 'राउलवेल' कही गई है और फिर वहाँ भी भाषा में, जैसी उसकी जानी थी। यह कवि किसी सामन्त का वन्दी या चारण रहा होगा, क्योंकि काव्य में वह अपने आपको 'वंडिरा' कहता है -

बुद्धि रे वंडिरो आपणी हार सी ॥ पंक्ति 22

जो देखि वंडिरो को न (मू) झइ जणु ॥ पंक्ति 24

'राउलवेल' के रचनाकाल का कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया गया है। इस भाषा-काव्य का नायक 'टेल्ल' (त्रिकलिंग) का निवासी था। 11वीं 12वीं शती में त्रिकलिंग कलचूरि शासकों के अधीन था, जो गौड़ नहीं थे। अतः यह लेख किसी सामन्त से सम्बद्ध होना चाहिए। यह त्रिकलिंग मध्यप्रदेश के दक्षिण कोसल का एक गाँव रतनपुरा बताया जाता है।¹⁵ अतः यही इस शिलालेख का लेखन स्थान होना चाहिए।

'राउलवेल' के रचनाकाल के संबंध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं है, किन्तु लिपि-विन्यास के आधार पर इसकी लिपि भोजदेव कृत 'कूर्म शतक' वाले धार के शिलालेख से मिलती है।¹⁶ दोनों में किसी भी मात्रा में अन्तर नहीं है। अतः इस लेख का उत्कीर्ण-काल भी 'कूर्मशतक' के आसपास ही, अर्थात् 11वीं शती ईस्वी होना चाहिए।¹⁷

इस शिलांकित भाषा-काव्य की विषय-वस्तु टेल्ल-निवासी किसी सामन्त की कुछ नायिकाओं का नख-शिख वर्णन है। प्रथम नायिका अज्ञात है। दूसरी हूणि है, तीसरी राउल नामक क्षत्रिय कन्या है, जिसका हाथ समस्त क्षत्रिय चाहते हैं - 'यु खता जणु सइलइ चाहहिं।' चौथी टक्किणी, पाँचवीं गौड़ी और छठी मालवीया है। यह सम्पूर्ण काव्य इन्हीं नायिकाओं के सौन्दर्य को प्रशस्तिपरक ढंग से प्रस्तुत करता है। यह शृंगार-काव्य है।

‘राउलवेल’ की भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है। जिस प्रकार ‘उक्ति व्यक्ति-प्रकरण’ की पुरानी कोसली है। उस पर समीपवर्ती तत्कालीन भाषाओं का कुछ प्रभाव अवश्य रहा होगा।⁸ ‘सिद्धहेमचन्द्र’ की भाषा से तुलना करने पर ‘राउलवेल’ की भाषा 11वीं शती की अपभ्रंशोत्तर भाषा का एक श्रेष्ठ उदाहरण कही जा सकती है। अपभ्रंश के विद्वानों को इसकी भाषा में अनेक चुनौतियाँ मिलेंगी। डॉ. भायाणी इसकी भाषा में अपभ्रंशोत्तर 6 विभिन्न क्षेत्रिय बोलियों का प्रतिनिधि देखते हैं⁹, जो उचित नहीं लगता। वस्तुतः 46 पंक्तियों के इस शिलांकित काव्य की भाषा एक ही बोली में लिपिबद्ध की गई थी, जिसमें सीमावर्ती बोलियों के तत्व भी देखे जा सकते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि रोडा-कृत ‘राउलवेल’ अपभ्रंशोत्तर काल की अत्यधिक सुन्दर, कलात्मक एवं शृंगारपरक काव्य कृति है। इसकी सभी नायिकाएँ विभिन्न अलंकरणों से नख से शिखा तक सुसज्जित हैं। उनके नख-शिख सौन्दर्य की भावात्मक अभिव्यक्ति हेतु कवि ने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी-सी लगा दी है। अनेक प्राकृत उपमानों द्वारा कवि ने सौन्दर्यतत्त्व की व्यापकता को उजागर किया है। काव्य-कला एवं भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से यह काव्य किसी भी समकालीन शृंगार-काव्य से कम नहीं है। नायिकाओं द्वारा व्यवहृत विभिन्न आभूषणों के वर्णन से तत्कालीन नारी की आभूषणप्रियता की ओर भी कवि ने इशारा किया है। आभूषणों की एक लम्बी सूची इस बात की द्योतक है। घडिवन (झुमके), कंठी, पाद-हंसिका (पैरों का घुंघरूदार आभूषण), करडिम (करपत्रिका - आरे के समान दाँतदार कर्णाभूषण), कांचड़ी (कानों का आभूषण), नूपुर, कप्पडि (कर्णाभरण), जलारी (जल्लार देश की कंठी), अमेअल (शेखरक - जूड़े के ऊपर बाँधी जानेवाली माला), वनवारो (पान के आकार का शिरोभूषण जो मस्तक पर लटकता रहता है), ताडर (पत्ते के आकार का एक कर्णाभरण), चन्द्रहाई (हाथ का आभूषण), मोतीहार, सोने के चूड़े, जवाघ (जवार्घ - जौ के आकार की स्वर्ण गुरियों की माला) आदि अनेक आभूषण उन नायिकाओं के नख-शिख की शोभा बढ़ाते हैं।

नारी-सौन्दर्य की विराटता को कवि ने अनेक उपमानों से सुशोभित किया है। चन्द्रमा, मुख सौन्दर्य के समक्ष तुच्छ लगता है। खोंप के ऊपर बाँधा अमेअल (शेखरक) ऐसा लगता है मानो सूर्य को राहु ने ग्रसित किया हो। कंठ में पहना मंडन ऐसा लगता है मानो मदन के हृदय में ‘बंधोअल’ (ब्रह्मोत्पल) लगा हो। गले में तारिकाओं का हार ऐसा लगता है मानो नवग्रह ही हार में जड़ दिये गये हों। नायिका के पारडी (पारार्द्र - एक प्रकार का मलमल) से ढके पीन पयोधर ऐसे लगते हैं मानो शरद्-जलद के मध्य चन्द्रमा हो, उसका ललाट अष्टमी के चाँद जैसा है, उसके दोनों कपोल चन्द्रमा-से लगते हैं। उसके कानों के झुमके पूर्णिमा के दो चाँद जैसे लगते हैं, गले की एकावली ऐसी लगती है मानो चन्द्रमा की सेवा में 27 नक्षत्र बालाएँ नमस्कार करती हों, उसके पीन पयोधर स्वर्ण-निर्मित मंगलकलश जैसे अथवा कामदेव के घट-से लगते हैं और उसके रक्तोत्पल जैसे चरणों ने तो साक्षात् लक्ष्मी के सौन्दर्य का ही हरण कर लिया है। इस प्रकार उक्त काव्य में अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है।

‘राउलवेल’ महाकवि रोडा द्वारा रचित नितान्त सार्थक नामवाली रचना है, जिसमें किसी सामन्त के रावल (राजकुल) की रमणियों का 46 पंक्तियों में मनभावन सौन्दर्य-चित्रण हुआ है। प्रत्येक नायिका का सौन्दर्य उसके नाम और परिवेश के अनुसार भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। शृंगार-चित्रण की समस्त मर्यादाओं का कवि ने सदैव ध्यान रखा है। सात्विक शृंगार-चित्रण के इससे सुन्दर चित्र अन्यत्र दुर्लभ हैं। नख-शिख वर्णनों के द्वारा कवि ने अपनी चित्रात्मक शैली का भी पूरा प्रयोग किया है। ‘हूणि’ नायिका के ताम्बूल-सेवित अधरों की लालिमा से मन भी रक्त (अनुरक्त) हो गया है। देखिए -

आखिहिं काजलु तरलउ दाजइ। (आ) छउ तुछउ फूलइ।
अह (र) तंबोलें मणुमणु रातउ। सोइ देइ कवि आ न....॥

उस नायिका के कानों के घडिवन (झुमके) बड़े-बड़े चित्तकों के चित्त को भी विचलित कर देते हैं और उसके गले की कंठी का तो कहना ही क्या!

... हं घडिवन हं चिजे रेख। ते चितवंतहं आनिक ओख।
... क चि कांठी कांठिहि सोहइ। लोकहं चीदिहि मांडचि खोहइ॥

दूसरी रमणी ‘राउल’, जो क्षत्रिय रमणी है, के नख-शिख-वर्णन में कवि का मन अत्यधिक रमा है। वही काव्य की नायिका भी है। कवि रोडा कहते हैं -

एहु कानोडाउं का इसउ झांखइ। वेसु अम्हाणउं ना जउ देखइ।
आउंडउ जो राउ (लुसो) हइ। थइ नउ सो एथु कोक्कु न मोहइ॥
डहरउ आंखिहिं काजलु दीनउ। जो जाणइ सो थइ न उवावउ॥
करडिम्ब अनु कांचडि अउ कानहिं। काइं करेवउ सोहहिं आवहिं॥
गलइ पुलुकी भ (तवइ) कांठी। काम्बतणी सा हरइ न॥
लांव झलांवउ कांचूरात (उ)। को कुन देखतु करइ उमातउ॥
थणहिं सो ऊंचउ कि अउराउल। तरुणा जोवन्त करइ सो बाउल॥
वाहडि आउ सोम्बालउ दीहउ। उआथिन तहुं जणु चाहउ॥
हाथहिं माहिअउ सुतु सोहहिं। थु खता जणु सयलइ चाहहिं॥

अर्थात् उस अपूर्व सुन्दरी राउल का सौन्दर्य देखकर ऐसा कौन होगा जो मोहित न हो जाये! उसकी आँखों का डहर (कम या थोड़ा) काजल, उसके कानों के करडिम और काँचड़ी नामक आभूषण, गले की कंठी, रक्त वर्ण का कंचुक, उन्मत्त कर देनेवाले उन्नत उरोज, सुन्दर परिधान, नूपुरों की मधुर ध्वनि और हंसगतिका उस राउल को देखकर समस्त क्षत्रियजन उसे पाने को लालायित हो उठते हैं। सच तो यह है कि उसके मुख-सौन्दर्य की छवि को देख स्वयं चन्द्रमा भी लज्जित हो उठता है।

तीसरी रमणी टक्कणी है। उसके नख-शिख सौन्दर्य का तो कहना ही क्या? कवि रोडा कहते हैं कि उस अपूर्व सुन्दरी को आँखभरकर देखने के लिए लोग बार-बार अपनी आँखें मलने लगते हैं -

एही टक्कणी पड़सति सोहड़। सा निहालि जणु मलमल चाहड़ ॥

चौथी रमणी गौड़ी के सौन्दर्य-चित्रण में कवि ने कमाल ही कर दिया। वे नायिका के बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ अन्तःसौन्दर्य की झलक प्रस्तुत करने में भी सफल रहे हैं -

खोपहि ऊपरं अम्बे अलकड़से। रवि जणि राहूँ घेतले जड़से ॥

X X X X

पारडीआं तरे थणहरु कड़सउ। सरय जलयं विच चांदा जड़सउ ॥

सूतेर हारु रोमावलि कलिअ (उ)। जणि गांगहि जलु जउणहि मिलिअउ ॥

X X X X

धवल कायउ ओढिअल कड़से। मुह ससि जोन्ह पसरिल जड़से ॥

ऐसी गौड़ी नायिका जब राउल (राजकुल-राजभवन) में प्रवेश करती है तो वह 'राउल' मानो लक्ष्मी के द्वारा मंडित दिखता है।

अन्तिम रमणी मालवीया का नख-शिख वर्णन कवि ने सशक्त गद्य में प्रस्तुत किया है। उस नायिका-मालवीया का उन्नत ललाट अष्टमी के चन्द्रमा की शोभा का भी हरण करता है। उसकी भौंहें ऐसी हैं मानो कामदेव ने धनुष चढ़ाया हो। इस अपूर्व सुन्दरी मालवीया को पाने के लिए प्रत्येक युवक लालायित है। उसके कानों के घडिवन (झुमके) ऐसे लगते हैं मानो पूर्णिमा के दो चाँद उसकी क्रोड में सुहाते हों। उस पीन-पयोधरा के वक्षस्थल ऐसे लगते हैं मानो दो स्वर्ण-कलश हों और उसके रक्तोत्पल पैरों की शोभाश्री ने तो जैसे लक्ष्मी की सुन्दरता का ही अपहरण कर लिया है।

इस प्रकार मर्यादित एवं सात्विक शृंगार-चित्रण के द्वारा कवि रोडा ने अपनी परिष्कृत अभिरुचि का ही परिचय दिया है। काव्य-कला की दृष्टि से यह भाषाकाव्य अतुलनीय है। इसमें कवि ने तत्कालीन लोक-अभिरुचि को भी अत्यन्त परिष्कृत ढंग से प्रस्तुत किया है।

1. उक्तिव्यक्ति-प्रकरण, दामोदर पंडित, भारतीय विद्या भवन, चौपाटी, बम्बई, 1945 ई.
2. हिन्दी अनुशीलन (डॉ. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक), भारतीय हिन्दी-परिषद्, प्रयाग, वर्ष 13, अंक 1-2 (जन.-जून), 1960, पृष्ठ 21
3. भारतीय विद्या, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, जून-जुलाई, भाग-17, अंक 3-4, पृष्ठ 130-146।

4. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष 13, अंक 1-2 (जन.-जून), 1960 ई. प्रयाग, पृष्ठ 21-38।
5. हिन्दी अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग, वर्ष 13, अंक 1-2 (जन.जून) 1960, पृष्ठ 23।
6. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 8, पृष्ठ 241।
7. हिन्दी अनुशीलन, (रोडा कृत राउलवेल : डॉ. माता प्रसाद गुप्त) प्रयाग, वर्ष 13, अंक 1-2, 1960, पृष्ठ 22।
8. वही, पृष्ठ 23।
9. भारतीय विद्या, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, जून-जुलाई, भाग-17, अंक 3-4, पृष्ठ 130, 131 (भूमिका)।

इन्दौरिया निकेतन,
छोटा बाजार, कोटपूतली
जयपुर
